आर्थिक भूगोल
की
सैद्धान्तिक रूपरेखा

लेखक
नन्दावल्लभ जोशी

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण योजना के अन्तर्गत, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : 1986

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर
उपलब्ध कराये गये कागज से निर्मित ।

मूल्य : 27-00 रुपये

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए-26/2, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर,
जयपुर-302 004

मुद्रक :
राष्ट्र उद्योग प्रिण्टर्स
दीनानाथजी का रास्ता,
चौड़ा रास्ता बाजार, जयपुर फोन : 62120

प्रस्तावना

राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी अपनी स्थापना के 16वर्ष पूरे करके 15जुलाई, 1985 को 17वें वर्ष में प्रवेश कर चुकी है। इस अवधि में विश्व साहित्य के विभिन्न विषयों के उत्कृष्ट ग्रंथो के हिन्दी अनुवाद तथा विश्वविद्यालय के शैक्षणिक स्तर के मौलिक ग्रंथों को हिन्दी मे प्रकाशित कर अकादमी ने हिन्दी-जगत् के शिक्षकों, छात्रो एवं अन्य पाठको की सेवा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और इस प्रकार विश्वविद्यालय स्तर पर हिन्दी में शिक्षण के मार्ग को सुगम बनाया है।

अकादमी की नीति हिन्दी में ऐसे ग्रंथो का प्रकाशन करने की रही है जो विश्वविद्यालय के स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों के अनुकूल हो। विश्वविद्यालय स्तर के ऐसे उत्कृष्ट मानक ग्रंथ, जो उपयोगी होते हुए भी पुस्तक प्रकाशन की व्यावसायिकता की दौड़ मे अपना समुचित स्थान नही पा सकते हो और ऐसे ग्रंथ भी जो अंग्रेजी की प्रतियोगिता के सामने टिक नही पाते हों, अकादमी प्रकाशित करती है। इस प्रकार अकादमी ज्ञान-विज्ञान के हर विषय में उन दुर्लभ मानक ग्रंथो को प्रकाशित करती रही है और करेगी जिनको पाकर हिन्दी के पाठक लाभान्वित ही नही गौरवान्वित भी हो सकें। हमे यह कहते हुए हर्ष होता है कि अकादमी ने 325 से भी अधिक ऐसे दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण ग्रंथो का प्रकाशन किया है जिनमें से एकाधिक केन्द्र, राज्यो के बोर्डो एवं अन्य संस्थाओ द्वारा पुरस्कृत किये गये है तथा अनेक विभिन्न विश्वविद्यालयो द्वारा अनुशंसित।

राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी को अपने स्थापना काल से ही भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय से प्रेरणा और सहयोग प्राप्त होता रहा है तथा राजस्थान सरकार ने इसके पल्लवन मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, अतः अकादमी अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में उक्त सरकारो की भूमिका के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती है।

प्रस्तुत पुस्तक 'आर्थिक भूगोल की सैद्धान्तिक रूपरेखा' मे आर्थिक भूगोल के सभी पक्षो का सर्वांगीण विवेचन किया गया है। विषय के क्रमिक विकास को दर्शाते हुए और वैज्ञानिक पद्धति से लेखक ने अर्थशास्त्र के भौगोलिक पक्ष को रोचक

ढंग से उजागर किया है। पुस्तक निश्चय ही भूगोल के स्नातकोत्तर छात्रों एवं अध्यापकों के लिए उपादेय सिद्ध होगी।

हम इसके लेखक डॉ० नन्दावल्लभ जोशी, श्रीगंगानगर, विषय सम्पादक डॉ० हेमशंकर माथुर, भूगोल विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के प्रति प्रदत्त सहयोग हेतु आभार प्रकट करते हैं।

हीरालाल देवपुरा
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी एवं
शिक्षा मन्त्री, राजस्थान सरकार,
जयपुर।

डॉ. राघव प्रकाश
निदेशक
राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी,
जयपुर।

प्राक्कथन

भूगोल ज्ञान की प्राचीनतम शाखाओं में से एक है। इसकी विषय-सामग्री के अन्तर्गत पृथ्वी और उसके निवासियों सम्बन्धी तथ्य आते हैं जिनका वर्णन भौगोलिक अध्ययन के साथ-साथ साहित्य की कई विधाओं के माध्यम से भी होता आया है। विषय-सामग्री की इस विविधता और विशालता ने हर युग में भूगोलवेत्ताओं के सम्मुख यह प्रश्न पैदा किया है कि पृथ्वी और उसके निवासियों सम्बन्धी तथ्यों का समग्र रूप किस विधि द्वारा सर्वाधिक प्रभावशाली तरीके से प्रस्तुत किया जाये। यही कारण है कि भूगोल में शब्दात्मक, रेखाचित्रात्मक, मानचित्रात्मक तथा संख्यात्मक (Literacy, Graphicacy and Numeracy) तीनों ही विधियों का उपयोग विषय-वस्तु के प्रस्तुतीकरण के लिये किया जाता है।

धरातल प्राकृतिक और मानवीय तथ्यों से भरा पड़ा है। प्रारम्भिक समय में इन तथ्यों का प्रादेशिक वर्णन करना भूगोल का मुख्य कार्य माना जाता था, किन्तु वर्तमान काल में तथ्यों के प्रादेशिक विवरण प्रस्तुत करने की बजाय इन तथ्यों के *स्थानिक प्रारूपों को नियन्त्रित करने वाली प्रक्रियाओं (Processes) और सिद्धान्तों* को समझने पर अधिक जोर दिया जाने लगा है। भूगोल की अध्ययन पद्धति में यह परिवर्तन 1950 के बाद से स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

भूगोल की विभिन्न शाखाओं के अन्तर्गत आर्थिक भूगोल उसी प्रकार एक महत्त्वपूर्ण शाखा है जिस प्रकार मानव के विभिन्न क्रिया-कलापों में आर्थिक क्रिया-कलाप सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि यातायात व संदेश-वाहन के साधनों की सुविधाओं और उत्पादन की उन्नत तकनीक के कारण आज मानव के आर्थिक क्रिया-कलाप या उसकी अर्थ-व्यवस्था केवल स्थानीय संसाधनों की मोहताज नहीं रह गई है। इसलिये आर्थिक-क्रिया-कलापों पर प्राकृतिक वातावरण के प्रभाव मात्र का अध्ययन करने की विधि आर्थिक भूगोल में पुरानी पड़ गई है। आर्थिक क्रिया-कलापों के सार्वभौमिक स्वरूप ग्रहण करते जाने के कारण अब तो इनको संचालित करने वाली प्रक्रियाओं और सिद्धान्तों के अध्ययन पर ही बल दिया जाने लगा है। प्रस्तुत पुस्तक भी इसी दिशा में किया गया एक प्रयास है जिसमें आर्थिक भूगोल के सैद्धान्तिक पहलू को उजागर करने की ओर ध्यान दिया गया है।

पुस्तक का प्राकल्प तैयार करते समय यह ध्यान में रखा गया है कि पाठक आर्थिक भूगोल के क्रमिक विकास और उसकी अध्ययन पद्धतियों की विशेषताओं पर दृष्टिपात करने के उपरान्त आर्थिक क्रिया-कलापों के सैद्धान्तिक विवेचन की आवश्यकता का अनुभव करे, साथ ही अर्थशास्त्र और आर्थिक भूगोल में स्पष्ट भेद करते हुए अर्थतंत्र के स्थानिक आयाम (Spatial Dimension) की भूमिका का अवलोकन करके आर्थिक-क्रिया-कलापों के विभिन्न स्वरूपों यानी उत्पादन व विनिमय सम्बन्धी मानव के प्रमुख व्यवसायों के सैद्धान्तिक विवेचन पर पहुँचे। इस सारी बात को विभिन्न अध्यायों में बाँटकर प्रस्तुत किया गया है। चूँकि सभी आर्थिक क्रिया-कलाप व्यक्तिगत, समूहगत या संस्थागत निर्णयों के परिणामस्वरूप संचालित होते है, अतः पुस्तक मे निर्णयन-प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है। इस तरह पुस्तक को आठ अध्यायों में बाँटा गया है। प्रत्येक अध्याय एक दूसरे से क्रमिक रूप से जुड़ा होने के साथ-साथ अपने आप में स्वतन्त्र भी है।

पुस्तक की रचना करने मे विस्तृत तौर पर भारतीय तथा विदेशी विद्वानों के ग्रन्थों तथा प्रकाशित एवं अप्रकाशित शोध प्रपत्रों का अवलोकन किया गया है। समय-समय पर विषय के विशेषज्ञों से भी विचार विनिमय किया गया।

पुस्तक तैयार करने में राजेश द्वारा कई प्रकार के उपयोगी कार्य करके चिर-स्मरणीय सहयोग प्रदान किया गया। दर असल, राजेश द्वारा उत्साहपूर्वक एव विनम्र भाव से किये गये अथक परिश्रम के फलस्वरूप ही लेखक विषय के सम्बन्ध मे अपनी अनुभूति को इस पुस्तक के रूप मे आकार दे पाया है। पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार करने मे श्रीमती जोशी का अत्यधिक सहयोग रहा है। राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा अपने प्रकाशन के रूप मे पुस्तक का चुनाव करने के लिए लेखक अकादमी का आभारी है।

नन्दावल्लभ जोशी

विषय-सूची

(आ) लागत (व्यय) सम्बन्धी विवेचन—
- (i) प्रारम्भिक निर्माण लागत
- (ii) बहु-प्रयोगी मार्ग व निर्माण व्यय
- (iii) उपभोक्ता के लिये न्यूनतम लागत
- (iv) निर्माता के लिए न्यूनतम लागत
- (v) अपवर्तन का नियम

5. परिवहन व्यय की संरचना—

(अ) उत्पादन के साधन के रूप मे परिवहन का स्वभाव

(आ) परिवहन व्यय में भिन्नता—
- (i) माल की विशेषताओं के कारण परिवहन व्यय की दर मे भिन्नता—(लदान की किस्म, माल की मात्रा, माल की विशेषता, माँग की लोच)
- (ii) ट्रैफिक की विशेषताओं के कारण परिवहन व्यय की दर मे भिन्नता—(प्रतिस्पर्द्धा, सघनता, लदान की दिशा)
- (iii) निश्चित दूरियो के अनुसार परिवहन व्यय की दर का निर्धारण

(इ) परिवहन लागत व आर्थिक क्रिया-कलापो की अवस्थिति

6. परिवहन मे सुधार तथा उसका स्थानिक प्रभाव—
- (i) सामान्य वृद्धि　　(ii) मात्रा वृद्धि
- (iii) संरचनात्मक वृद्धि

7. परिवहन मार्ग जालो का विश्लेषण

(अ) सघनता

(आ) गम्यता

(इ) सरचना विश्लेषण—
- ग्राफ सिद्धान्त—साइक्लोमैटिक निर्देशांक, अल्फा निर्देशांक, बीटा निर्देशांक, गामा निर्देशांक, पाई निर्देशांक, थीटा निर्देशांक

(ई) सरचना विश्लेषण विधि की समालोचना

8 अन्तर्प्रतिक्रिया—

(अ) प्रभावित करने वाले तत्व—परिसंचरण
- (i) संचार के साधनो मे किसी स्थान की स्थिति
- (ii) सामाजिक व आर्थिक स्तर
- (iii) आवागमन के बीच में रुकावट

1. विषय प्रवेश

मानवीय क्रियाकलाप एवं भूगोल

पृथ्वी पर ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट रचना मनुष्य है। विकास के प्रारम्भिक काल में मनुष्य अन्य प्राणियों की भाँति प्रकृति पर पूर्ण रूप से अवलम्बित था और वह प्रकृति से अपनी दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ मुश्किल से प्राप्त कर पाता था। इस समय उसके मस्तिष्क में प्रकृति के लिए स्वाभाविक जिज्ञासा मात्र थी। इसका कारण उसका अविकसित ज्ञान था। अतः उसे जो कुछ सरलता से प्राप्त हो सकता था उसे ही ग्रहण करके सन्तुष्टि प्राप्त कर लेता था। इस काल में उसके कार्यकलाप भी अत्यन्त सीमित थे। इसलिए इस काल के मनुष्य को हम आदर्श बर्बर (Noble Savage) कह सकते हैं। मानव सभ्यता के इतिहास में इस प्रारम्भिक अवस्था को पूर्व-पाषाण युग (Palaeolithic Age) कहा जाता है और ऐसा माना जाता है कि वाक्शक्ति (बोलना), हथियार और आग का आविष्कार उस समय मनुष्य ने किया। इन्हें सभ्यता का त्रिदण्डीय आधार कहा जाता है।[1]

जैसे-जैसे मनुष्य का मस्तिष्क अधिक विकसित होता गया और उसने अधिक ज्ञानार्जन किया वैसे ही उसके लिए प्रकृति में अधिक सुविधाएँ दिखाई देने लगी। पहले मानव का लक्ष्य दैनिक उपभोग के लिए आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करना मात्र था लेकिन अब वह भविष्य के लिए भी संग्रह करने लगा। प्रारम्भिक काल में प्रकृति के साथ किए गए सामन्जस्य के स्थान पर अधिकाधिक वस्तुएँ प्राप्त करने के लिए उसने पृथ्वी पर आवश्यकतानुसार परिवर्तन किए। इसी क्रम में उसने अपना शिकारी एवं संग्रहकर्त्ता का रूप त्यागकर कृषि एवं पशुपालन प्रारम्भ किया जिसके लिये उसे सामान्य तकनीकी ज्ञान की भी आवश्यकता अनुभव होने लगी। परन्तु इस काल तक भी यह क्रियाकलाप सीधे-सादे या आदम प्रकार के ही थे। जटिल तकनीकी का नितान्त अभाव था। यह समय मानव सभ्यता के इतिहास में उत्तर पाषाण काल (Neolithic Age) कहा जाता है। यही वह काल था जब कई प्रकार के मौलिक और मानव सभ्यता के लिये आधारभूत अनुसंधान किये गये। वर्तमान काल के प्रसिद्ध मानव भूगोलवेत्ता ए.वी. परपिल्लो (A.V. Perpillou) ने निम्नलिखित शब्दों में इस युग के मानवीय क्रिया-कलापों की प्रशंसा की है—

"उत्तर पाषाण-युग के मनुष्य के हम आभारी हैं जिसने उन सभी तकनीकों का आविष्कार किया जिस पर प्रत्येक महान सभ्यता आधारित रही है। इसी प्रकार शिकार करने और शिकार बना लिये जाने वाला जंगली मनुष्य प्रकृति का व्यवस्थापक

1 Speech, tools and fire have been called the tripod of culture.

बना। इस युग के मनुष्य ने पौधों को उगाना और जानवरों को पालना शुरू किया और व्यवस्थित जीवन का शुभारम्भ किया। वर्तन बनाने और कपड़ा बुनने की कला का आविष्कार किया और विभिन्न वस्तुओं को व्यवस्थित रूप दिया जिनमें पहिया सबसे महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसके बिना हमारे किसी भी आविष्कार की अनुभूति नहीं होती। उसने गाँव बसाये, जीवन के लिय विधि-विधान बनाये और दाह-संस्कारों को धर्म से सम्बन्धित किया। इस प्रकार उसने विस्तृत परम्पराओं और विश्वासों का उत्तराधिकार प्रदान किया। साथ ही धातुओं का प्रयोग करने के ज्ञान की पूर्व-पीठिका तैयार की, धातुओं का प्रयोग करने का ऐसा ज्ञान जिसने मनुष्य की वर्तमान प्रगति को सम्भव बनाया।"[2]

जनसंख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि एवं वैज्ञानिक प्रगति होने से मनुष्य के सामाजिक जीवन में भी जटिलता आई और इसके साथ ही मानवीय क्रिया-कलाप भी अधिकाधिक जटिल होते गए। कृषि व पशुपालन मशीनीकृत व अधिक तकनीकी हो गया। इनके साथ ही वनों एवं खनन कार्य से प्राप्त कच्चे माल का रूपान्तरण करके उसे अधिक उपयोगी बनाया जाने लगा। इस प्रकार विभिन्न प्रकार की विनिर्माण उद्योग अस्तित्व में आए। उद्योगों की स्थापना के बाद नगरों का विकास हुआ। हालांकि पहले भी उद्योग-धन्धे प्रारम्भ हो चुके थे, खनन कार्य प्रारम्भ हो चुका था पर अब यह अधिक व्यक्तियों द्वारा विकसित उत्पादन विधि द्वारा किया जाने लगा। मानवीय क्रिया-कलाप दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही सीमित नहीं रहे अपितु वे अधिक विस्तृत होते गए। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विकास हुआ। मानव ने प्रकृति में अनुकूलन के साथ-साथ परिवर्तन करना प्रारम्भ कर दिया।

इस प्रकार मानवीय क्रियाकलापों के इतिहास पर एक दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभ्यता के विकास के साथ मानवीय क्रिया-कलापों की जटिलता भी बढ़ती गई। चूँकि भूगोल वह विज्ञान है जिसमें मानव के निवास-स्थान पृथ्वीतल का अध्ययन किया जाता है। अतः इस पर निवास करने वाले मनुष्य, उनके द्वारा किये जाने वाले कार्य, वातावरण इत्यादि का अध्ययन स्वतः ही इसमें

---

2. "To neolithic man we owe the invention of all the techniques on which *every great civilization has been based* With him the *wretched animal* who was in turns hunter and hunted became the organizer of nature. Neolithic man cultivated plants, reared animals, and was the first to live a settled life. He invented poutry-making and weaving and fashioned various objects, the most important of which was the wheel, for without it none of our inventions would have been realized, farther more he built villages, codified the law, and connected funeral rites with religion. Thus he gave a vast heritage of traditions and beliefs, the knowledge of which preceded that of the use of metals and made man's subsequent progress possible"

A V. Perpillou : Human Geography. 1968, P. 22.

सम्मिलित हो जाता है। मानवीय क्रियाकलापों में सभ्यता के विकास के साथ-साथ जो जटिलता बढ़ी उसके परिणामस्वरूप भूगोल में प्राकृतिक एवं मानवीय पहलुओं का अलग-अलग अध्ययन किया जाने लगा और उसकी दो शाखाएँ प्रस्फुटित हुई—प्राकृतिक भूगोल एवं मानव भूगोल।

आर्थिक भूगोल मानव भूगोल की ही एक महत्त्वपूर्ण शाखा है जिसमें भी मानवीय क्रियाकलापों का अध्ययन किया जाता है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि मनुष्य जो भी कार्य करता है, वह कुछ प्राप्ति के लिये ही करता है। चाहे वह दैनिक आवश्यकता पूर्ति के लिये किया जाए, चाहे अनावश्यक संग्रह के लिए। अतः मानव के इन क्रिया-कलापों को आर्थिक क्रियाकलापो की संज्ञा दे दी जाती है। इन्हीं कार्यों का प्रभाव पृथ्वीतल पर पड़ता है और वे भूगोल का विषय बन जाते हैं।

मानवीय सभ्यता के विकास के समान ही भूगोल विषय का भी विकास हुआ। प्रारम्भ मे भूगोल वेत्ताओं ने संसार का चित्रण वैसा ही किया जैसा उन्होंने उसे देखा चूँकि उस समय यह धारणा थी कि मानव के प्रत्येक काम के पीछे किसी दैविक शक्ति का हाथ है। इसलिए प्राकृतिक घटनाओं और वस्तुओं का आध्यात्मिक विवरण भी प्रस्तुत किया जाता था। इस विचारधारा को मानने वाले लोग दैववादी (Theocrats) कहे जाते है।

धीरे-धीरे दैविक शक्ति के स्थान पर मानवीय क्रियाकलापों को प्रभावित करने वाली शक्ति के रूप मे प्राकृतिक वातावरण के तत्वों को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। इस प्रकार की विचारधारा को मानने वाले लोगों को भू-सत्तावादी (Geocrats) कहते है। कुछ लोग उन्हे निश्चयवादी (Determinists) भी कहते है।

19वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के अन्वेषणों एवं तकनीकी ज्ञान के विकास के फलस्वरूप जो प्रगति हुई उसने चिन्तकों एवं विचारकों के सोचने के ढंग पर प्रभाव डाला। इसमें जो परिवर्तन हुआ, उसके कारण वातावरण मे विद्यमान विभिन्न प्रकार के अवसरो के प्रति सम्भावना खोजी जाने लगी। इस विचारधारा को मानने वालों को मानवसत्तावादी (Weocrats) कहते है। दूसरे शब्दों में इन्हें सम्भववादी (Possibilists) भी कहा जाता है। तकनीकी ज्ञान में आश्चर्यजनक विकास हो जाने से असम्भव लगने वाले बड़े-बड़े कार्य भी भूतल पर मनुष्य द्वारा सम्पन्न किये जा रहे है। मनुष्य की इस अद्भुत क्षमता पर विश्वास करने वालो को टेक्नोक्रेट्स (Technocrats) कहते है। इस प्रकार प्राकृतिक दशाओ के परिप्रेक्ष्य में मानवीय क्रिया-कलापों को भौगोलिक अध्ययनो मे अलग-अलग कालो मे अलग-अलग रूप मिलता रहा है।

भूगोल की अध्ययन पद्धति के क्षेत्र मे भी इसी प्रकार का परिवर्तन होता रहा है। 1950 के मध्य तक सावधानीपूर्वक किए गए मापों के स्थान पर कारणिक

पर्यवेक्षण ही किए जाते थे। फिर भी इस युग के भूगोल को कारण-प्रभाव सम्बन्ध (Cause-effect relationship), निश्चयवाद (Determinism) के रूप में बहुत बड़ी देन रही है किन्तु इस समय तक भूगोल अध्ययन सम्बन्धी सैद्धान्तिक पद्धति के प्रभाव से नितान्त अछूता रहा।

सन् 1950 के बाद ही भूगोल के इतिहास में मात्रात्मक क्रान्ति (Quantitative revolution) का युग आया। मेकार्टी, ग्रेगरी, कोल एवं किंग, मीट्स, गेरीसन एवं मार्बल, टिट्समेल व बार्कर, हेमण्ड व मेकूलाघ, स्मिथ आदि इस युग के प्रमुख भूगोलवेत्ता थे जिन्होंने मात्रात्मक क्रान्ति का सूत्रपात किया। प्रतिदर्श (Model) निर्माण व सिद्धान्तों में गणित का प्रयोग किया जाने लगा और इस प्रकार भौगोलिक अध्ययन में विवरणात्मक पद्धति से भिन्न तथ्यों का सैद्धान्तिक विवेचन करने के लिए सांख्यिकी का प्रयोग प्रारम्भ हुआ।

भूगोल में दूसरी क्रान्ति अध्ययन की सामाजिक प्रासंगिकता (Social relevance) के रूप में सम्मुख आई। नवीन भूगोलवेत्ताओं ने प्रदूषण, निर्धनता, भूख, जातिगत-विभेद, सामाजिक असमानता व अन्याय, कॉलोनी-प्रसार की विस्फोटक स्थिति आदि पर अपना ध्यान लगाना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार भूगोल के अध्ययन क्षेत्र में भी मूलभूत परिवर्तन होते रहे हैं। मानवीय क्रियाकलापों की जटिलता बढ़ने के साथ-साथ ही भूगोल में भी अध्ययन सम्बन्धी जटिल पद्धतियाँ अपनाई जा रही हैं। आर्थिक भूगोल भी इस प्रभाव से अछूता नहीं रहा। अतः आगे आने वाले पृष्ठों में आर्थिक भूगोल के बदलते हुए स्वरूप पर प्रकाश डाला जायेगा।

आर्थिक भूगोल का विकास और उसकी बदलती हुई परिभाषा

आर्थिक भूगोलवेत्ता आर्थिक-व्यवस्था के अध्ययन में दिलचस्पी रखता है जिसका निर्माण मनुष्य द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों के परिणामस्वरूप होता है। ये प्रयत्न ही आर्थिक-क्रिया-कलाप कहे जाते हैं। एक अर्थशास्त्री भी आर्थिक-व्यवस्था का ही अध्ययन करता है किन्तु उसका ध्यान मुख्य रूप से मानवीय प्रयासों तक ही सीमित रहता है जबकि मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए काम में आने वाली वस्तुओं का यह उत्पादन प्रकृति के साथ सम्बन्ध बनाकर ही सम्भव हो सकता है। इसलिए आर्थिक भूगोल के अन्तर्गत प्राकृतिक और मानवीय दोनों तत्त्वों का समावेश होता है। विश्व के बदलते हुये परिवेश के कारण समय-समय पर आर्थिक भूगोल के अर्थ और क्षेत्र के सम्बन्ध में नये-नये प्रकार से

विचार किया जाता रहा है। इन परिवर्तनों को हम निम्नलिखित प्रकार से विभाजित कर सकते है—
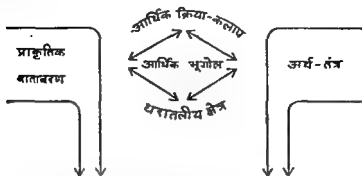
- प्राकृतिक वातावरण के आर्थिक क्रिया-कलाप पर पड़ने वाले प्रभाव का काल .
- आर्थिक क्रिया-कलापो की क्षेत्रीय विभिन्नताओं के अध्ययन का काल .
- अर्थतंत्र के स्थानिक आयाम के अध्ययन का काल ,
- सैद्धान्तिक स्वरूप के विकास का काल

चित्र : 1.1

1. प्राकृतिक वातावरण के आर्थिक क्रिया-कलापों पर पड़ने वाले प्रभाव के अध्ययन का काल

भूगोल को व्यवस्थित स्वरूप हम्बोल्ट (1769–1859) तथा रिटर (1759–1859) की रचनाओं के द्वारा मिला जिन्होंने अपने ग्रन्थों में विश्व के भिन्न-भिन्न भागों के प्राकृतिक तथ्यों एव मानवीय क्रिया-कलापों का वर्णन विस्तार से किया। इन विद्वानों के कार्यों के प्रभाव से भौगोलिक अध्ययन में विवरणात्मक पद्धति का विकास हुआ। और चूंकि उस काल तक भूतल पर मानवीय क्रिया-कलापों की मात्रा अपेक्षाकृत कम थी अतः प्राकृतिक तथ्यों एवं उनकी प्रभावशाली स्थिति को अधिक महत्व प्राप्त होना स्वाभाविक ही था। इसी तरह अर्थशास्त्र को व्यवस्थित स्वरूप आदम स्मिथ के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'राष्ट्रों की सम्पत्ति' (Wealth of the Nations) के द्वारा प्राप्त हुआ। उसमें भी राष्ट्रों की सम्पदा की स्थिति पर सविस्तार प्रकाश डालते हुए उनका अधिकतम विदोहन किये जाने की आवश्यकता पर बल दिया गया था जिसका प्रभाव आर्थिक भूगोल पर भी पड़ना स्वाभाविक ही था। इस प्रकार अपने प्रारम्भिक काल में आर्थिक भूगोल की विषय सामग्री के अन्तर्गत विभिन्न भू-भागों की सम्पदा एवं उन क्षेत्रों में मनुष्य द्वारा आजीविका के लिए किये जा रहे व्यवसायों की सामान्य जानकारी का ही समावेश था। यह भूगोल

का वह काल था जब उसमे नियतिवादी विचारधारा का विकास हो रहा था। 1859 मे प्रकाशित चार्ल्स डार्विन की पुस्तक 'जीवो का विकास' (Origin of Species) के प्रभाव से प्राकृतिक वातावरण का मनुष्य पर पड़ने वाला प्रभाव अधिक बढ़ा चढ़ाकर प्रस्तुत किया जाने लगा। जर्मन विद्वान रेटजल (1844–1904) ने एन्थ्रोपोज्योग्रफी (Anthropogeographie) ग्रन्थ लिखकर मानव भूगोल को जन्म दिया और उसमे मनुष्य की कार्यक्षमता और उसकी प्रभावशाली भूमिका की कीमत पर भी प्राकृतिक वातावरण की महत्ता को स्थापित किया। आर्थिक भूगोल की अध्ययन पद्धति भी इस प्रकार की विचारधारा से बच नहीं सकती थी। अतः सन् 1882 में जर्मन विद्वान गोत्स (Gotz) ने आर्थिक भूगोल की परिभाषा निम्नलिखित शब्दो मे दी—

"आर्थिक भूगोल में विश्व के विभिन्न भागो की उन विशेषताओं का वैज्ञानिक विवेचन किया जाता है जिनका वस्तुओ के उत्पादन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।"[3]

उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि वस्तुओं के उत्पादन की तुलना में उन पर प्रभाव डालने वाले क्षेत्रीय कारको का अध्ययन अधिक महत्वपूर्ण माना गया है।

इस प्रकार की विचारधारा से प्रभावित होकर कई विद्वानो ने समय-समय पर भूगोल की परिभाषाएँ दी जिनमे से कुछ उदाहरणस्वरूप नीचे दी जा रही हैं—

"आर्थिक भूगोल भूगोल का वह पहलू है जिसके अन्तर्गत वातावरण (जैविक और अजैविक) के मानवीय क्रियाकलापों पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन किया जाता है।"[4] (आर.एन. ब्राउन)

"आर्थिक भूगोल भौतिक वातावरण के तत्वों, विशेष रूप से भूमि के स्वरूप व सरचना, जलवायु की दशाओ एव विभिन्न क्षेत्रो की विभिन्नताओं के मानवीय, आर्थिक क्रियाकलापो पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करता है।"[5]

(जे. मैकफारलेन)

उपर्युक्त परिभाषाओं मे भी मानवीय क्रिया-कलापों पर प्रभाव डालने वाले वातावरण के तत्वो के अध्ययन पर ही विशेष बल दिया गया है।

---

3. "Economic Geography makes a scientific investigation of nature of world areas in their direct influence on the production of goods. —Gotz
4. Economic Geography is that aspect of the subject which deals with the influence of the environment-inorganic and organic on the activities of men. —R N. Brown
5. Economic Geography is the study of influence on economic activities of man by his physical environment and more specially by the form and structure of the surface of land, the climatic conditions which prevail upon it and the place relations in which its different regions stand to one another. —J. Macfarlane

2. आर्थिक क्रियाकलापों की क्षेत्रीय विभिन्नताओं के अध्ययन का काल

यूरोप में हुई औद्योगिक क्रान्ति ने मानवीय कार्य-कलापो—विशेष रूप से आर्थिक कार्य-कलापो के क्षेत्र मे भी क्रान्ति कर दी जिसके प्रभाव से मानव समुदायों का स्थानान्तरण, उपनिवेशों का विस्तार, धार्मिक मान्यताओं में परिवर्तन, सामाजिक सम्बन्धो मे परिवर्तन एव राजनीतिक गतिविधियो मे तेजी आई। विश्व के भिन्न-भिन्न राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था बदलने लगी। उत्पादन में विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन मिला। फलस्वरूप विभिन्न आवश्यकताओ की सन्तुष्टि हेतु विनिमय सम्बन्धी कार्यों मे तीव्रता आयी—विदेशी व्यापार बढ़ गया। इस परिवर्तित परिवेश में आंकडो का संकलन बढ़ने लगा। आर्थिक भूगोल की विषय सामग्री आंकडे प्रधान होने लगी। इसीलिए कुछ विद्वानो ने वाणिज्यिक भूगोल पर बल दिया जिसका अध्ययन व्यापारिक कार्यो के लिए बड़ा उपयोगी रहता था। वाणिज्यिक भूगोल को प्रश्रय देने वाले विद्वानो में चिशोम, व्हिट-बेक तथा रसेल स्मिथ का नाम उल्लेखनीय है।

किन्तु मात्र आंकड़ों का संकलन करने वाला वाणिज्यिक भूगोल, भूगोल के विद्यार्थियों में अधिक लोकप्रिय नही हो पाया क्योंकि विषय की प्रकृति के अनुकूल आंकडो का संकलन भर करना भौगोलिक अध्ययन का एकमात्र उद्देश्य नही है। लोकप्रियता की कमी का एक दूसरा कारण यह भी रहा कि विश्व-युद्ध काल में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कम हो गया जिसके फलस्वरूप प्रमुख राष्ट्रो एवं उनके व्यापारिक औद्योगिक प्रतिष्ठानो का ध्यान आंकड़ों से हटकर नये-नये भू-भागों की प्राकृतिक सम्पत्ति के अनुसंधानों में लग गया।

उधर प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति के साथ सम्पूर्ण विश्व में मनुष्य की विचारधारा मे बहुत बड़ा परिवर्तन आया। मारकोनी द्वारा बेतार के तार खोज लिए जाने से सदेश-वाहन के साधनो मे भारी परिवर्तन आया। इसके साथ-साथ राइट बन्धुओ द्वारा वायुयान के आविष्कार से यातायात के साधनों मे चमत्कार पैदा हो गया। इन दोनों आविष्कारों का उपयोग करते हुए सम्पूर्ण विश्व जैसे सिमटकर एक इकाई बनने लगा। यही नही इन अचरज भरे कारनामों से मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों के प्रभाव से धीरे-धीरे अपने को मुक्त करने लगा और उसकी चिंतन की धारा बदल गई। 1917 में, रूस में साम्यवाद का उदय हुआ (जो मानव रचित संसार का स्वप्न है) भूगोल के क्षेत्र में भी इस विचारधारा का प्रभाव पड़ा। फ्रास में विडाल डे ला ब्लाश ने मानवीय क्रियाकलापों को प्रमुखता देते हुए अपना ग्रन्थ मानव भूगोल के सिद्धान्त (Principle de Geographie Humaine) तैयार किया जो उनकी मृत्यु के बाद 1918 में छपा। मानवीय शक्ति को प्रमुखता देने वाली यह विचारधारा 'संभववाद' के नाम से जानी जाती है जिसका चरमोत्कर्ष ला फेब्रे द्वारा 1925 मे प्रकाशित ग्रन्थ Geographical Introduction

to History में हुआ। सम्भववाद की इस विचारधारा के प्रभाव से आर्थिक भूगोल की परिभाषा में भी अन्तर आया। इनमें से कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

"आर्थिक भूगोल मनुष्य के जीविकोपार्जन की विधियों में एक स्थान से दूसरे स्थान पर मिलने वाली समानता एवं विषमता का अध्ययन करता है।"[6]
(आर.ई. मरफी)

"आर्थिक भूगोल जीविकोपार्जन की समस्याओं, उद्योगों, आधारभूत संसाधनों और औद्योगिक वस्तुओं का अध्ययन करता है।"[7] (ई.बी. शॉ)

"आर्थिक भूगोल भूतल पर मनुष्य की उत्पादक क्रिया-कलापों के वितरण का अध्ययन करता है। ये क्रियाकलाप प्राथमिक, द्वितीयक और तृतीयक प्रकार के हैं।"[8] (एन.जी. पाउन्ड)

"आर्थिक भूगोल उत्पादक व्यवसायों का अध्ययन करता है और यह स्पष्ट करता है कि क्यों कुछ प्रदेश विशेष विविध वस्तुओं के उत्पादन तथा निर्यात में अग्रणी हैं तथा क्यों कुछ दूसरे प्रदेश इन वस्तुओं के आयात तथा उपयोग में प्रमुख हैं।"[9] (सी.एफ. जोन्स)

"आर्थिक भूगोल भूतल पर मनुष्य के धन के उत्पादन, विनिमय एवं उपभोग सम्बन्धी क्रियाकलापों की क्षेत्रीय विभिन्नताओं का अध्ययन है।"[10] (अलैक्जैन्डर)

इस प्रकार उपर्युक्त सभी परिभाषाओं में क्षेत्रीय आर्थिक भिन्नता को आर्थिक भूगोल के अध्ययन का विषय बताया गया है। वास्तव में जैविक, अजैविक व मानवीय तत्व विश्व के सभी भागों में समान रूप से वितरित नहीं है। इसी कारण आर्थिक कार्यों के स्वरूप में भिन्नता पाई जाती है।

---

6. "Economic Geography has to do with similarities and differences from place to place in the ways people make a living." —R.E. Murphy
7. "Economic Geography is concerned with problems of making a living, with world industries with basic resources and industrial commodities." —E.B. Shaw
8. "Economic Geography is concerned with the distribution of men's product, activities over the surface of the earth. These activities are primary, secondary and tertiary activities." —N G. Pounds
9. "Economic Geography deals with the productive occupation and attempts to explain why certain regions are outstanding in the production and exportation of various articles and why others are significant in the importation and utilization of the things." —C.F. Jones
10. "Economic Geography is the study of areal variation on the earth's surface in man's activities related to producing, exchanging and consuming wealth." —Alexander

3. अर्थतन्त्र के स्थानिक आयाम के अध्ययन का काल

द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति के साथ विश्व का स्वरूप एकदम बदल गया था। अणुशक्ति के संहारक रूप को रचनात्मक दिशा दी जाने लगी। (जापान के नागासाकी और हिरोशिमा पर डाले गये अणु-बमों द्वारा विनाश-लीला से सबक लेकर) और वह शक्ति के अतुल स्त्रोत के रूप मे प्रयुक्त हुई। राजनीतिक दृष्टि से भी विश्व उथल-पुथल मची। यूरोपीय उपनिवेशों में स्वतन्त्रता प्राप्त करने की लहर दौड़ गई और 1947 में भारत के स्वतन्त्र हो जाने से इस दिशा में अन्य राष्ट्रों की मांगें भी प्रबल हो उठीं। विशेष रूप से अफ्रीकी और लेटिन अमेरिकी राष्ट्रों में स्वतन्त्रता प्राप्त करने की जागृति हुई। उपनिवेशवाद की समाप्ति के प्रयासों ने विश्व की अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित किया, क्योंकि कच्चे माल और तैयार माल के आयात-निर्यात सम्बन्धी व्यवस्था पर इसका जबरदस्त प्रभाव पड़ा। विज्ञान और तकनीकी क्षेत्रों में तेजी से प्रगति होने के कारण ब्रह्माण्ड की खोज करने के लिए नये प्रकार की आवश्यकता ने जन्म लिया जिनकी सन्तुष्टि के लिए आर्थिक क्रिया-कलापों मे भी तेजी आई और उनका स्वरूप बदलने लगा। यत्र-तत्र-सर्वत्र मशीनीकरण की जटिल प्रक्रिया देखने को मिलने लगी। तात्पर्य यह है कि मानवीय क्रिया-कलापों का मात्र तथ्यात्मक विवरण तथ्यहीन हो गया। अर्थशास्त्र में इस समय तक नये-नये सिद्धान्तों और परिकल्पनाओं को जन्म मिल चुका था और वह विश्व को एक इकाई मानते हुए अर्थ-व्यवस्था के विकास मे सहायक प्रक्रियाओं को खोजने में लगा हुआ था। अतः आर्थिक भूगोलवेत्ताओं ने भी भूतल पर मनुष्य द्वारा विकसित आर्थिक तन्त्र के समग्र रूप मे अध्ययन करने का कार्य हाथ में लिया। इस कार्य के लिए उसमें अर्थशास्त्र में पहले से ही विद्यमान शब्दावली का भी प्रयोग होने लगा।

आर्थिक तन्त्र मूल रूप से एक संगठनात्मक संरचना है जिसके द्वारा मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि हेतु सीमित साधनो का वैकल्पिक प्रयोग करते हुए कुशलतापूर्वक वितरण किया जाता है।[11]

दूसरे शब्दों में आर्थिक प्रणाली संस्थाओं का एक ढांचा है जिसके द्वारा उत्पत्ति के साधनों तथा उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं के उपयोग पर सामाजिक नियन्त्रण किया जाता है।

इस प्रकार आर्थिक प्रणाली में उत्पादन, उपभोग और विनिमय सम्बन्धी क्रियाएँ मुख्य रहती हैं तथा इन क्रियाओं का संचालन व्यक्ति समुदाय अथवा समाज द्वारा विभिन्न प्रकार की वस्तुओं एवं सेवाओं के लिए की जाने वाली मांग है और सीमित साधनों के असीमित एवं वैकल्पिक उपयोग हेतु यह निर्धारित किया जाता

11. Econ.mic system is basically an organisational structure through which man seeks to allocate scarce resources efficiently among alternative uses in accordance with his needs.

है कि किस प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन एवं उसकी पूर्ति किस माध्यम से तथा किस प्रकार के उपभोक्ताओं को की जायेगी। इस प्रकार की अवधारणा 'बाजार' शब्द से व्यक्त की जाती है और इस बाजार के तीन मुख्य भाग है—

मांग, पूर्ति और मूल्य जो स्वयं आपस में एक-दूसरे से सम्बन्धित है। एक ओर आर्थिक प्रणाली के अन्तर्गत उपकरण या वस्तुएँ (Objects) हैं जैसे—खेत, खलिहान, खानें, फैक्ट्री, दुकानें, दफ्तर, स्टेशन, बन्दरगाह आदि हैं। शहरों और गाँव का आकार भी इनमें सम्मिलित है। दूसरी ओर उनका अन्तर्सम्बन्ध है जिसे मनुष्य द्वारा परिचालित किया जाता है।

मांग और पूर्ति मात्र सैद्धान्तिक या भाववाचक न होकर स्थानिक रूप धारण किये होते हैं अर्थात् भूतल पर मांग और पूर्ति के क्षेत्र अलग-अलग हो सकते हैं और उनके बीच की दूरियाँ न केवल अलग-अलग नाप की हो सकती हैं बल्कि धरातलीय स्वरूप और आवागमन सम्बन्धी सुविधाएँ भी विभिन्न प्रकार की हो सकती हैं। इस प्रकार आर्थिक भूगोलवेत्ताओं के लिए महत्वपूर्ण तत्व मांग और पूर्ति के बिन्दु तथा उनके बीच की दूरी है जिसे स्थानिक विषमता कहते है। खेती-बाड़ी करने, उद्योग धन्धों की स्थापना करने या अन्य प्रकार का व्यवसाय करने में यह स्थानिक विषमता वाला तत्व महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है तथा विभिन्न आर्थिक क्रिया-कलापों को सम्पन्न करने के लिए भूतल पर मानवीय गतिशीलता, दूरी या स्थानिक विषमता द्वारा ही परिचालित होती है और इस प्रकार यातायात या परिवहन आर्थिक क्रिया-कलापों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए आर्थिक व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग बन जाता है। स्थानिक विषमता या दूरी का दोहरा महत्व है—

(1) प्रत्येक उत्पादक और उपभोक्ता स्थान का उपयोग करता है।

(2) एक स्थान से दूसरे स्थान के बीच की दूरी आर्थिक क्रिया-कलापों को प्रभावित करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि आर्थिक भूगोल में आर्थिक प्रणाली के स्थानिक आयाम (Spatial dimension) का अध्ययन प्रमुख है और यही आर्थिक भूगोलवेत्ता का मुख्य अध्ययन क्षेत्र है जिसे संकेत रूप में निम्नलिखित प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है—

स्थानिक व्यवस्था एवं वितरण→ समाकलन→ अन्तर्प्रतिक्रिया एवं संगठन→ प्रक्रियाएँ।[12]

4. सैद्धान्तिक स्वरूप के विकास का काल

वर्तमान समय में आर्थिक भूगोलवेत्ताओं का ध्यान तथ्यों के संकलन से हटकर तथ्यों की उपस्थिति को प्रभावित करने वाले सामान्य नियमों और प्रक्रियाओं

12. Spatial arrangement and distribution—integration—interactions and organization-processes

की खोज में लगा हुआ है और वे उसे वैज्ञानिक आधार प्रदान करना चाहते है ताकि विभिन्न प्रकार के तथ्यो को समूह केवल सकलित सामग्री के रूप में न रहकर सिद्धान्तों का रूप ग्रहण करे जिसकी सहायता से आर्थिक व्यवस्था के जटिल स्वरूप को क्रमबद्ध रूप से समझा और समझाया जा सके। साथ ही भावी विकास की सम्भावनाओ का आंकलन भी किया जा सके। इस हेतु विभिन्न प्रकार के प्रतिदर्शों (Models) का सहारा लिया जाने लगा है क्योंकि ये प्रतिदर्श जटिल स्थिति को सरलीकृत रूप मे हमारे सम्मुख उपस्थित करते है और किसी व्यवस्था अथवा तन्त्र के विशाल स्वरूप को बोधगम्य बना देते हैं। ज्ञान प्राप्ति के लिए इस प्रकार के प्रतिदर्शों से बडी सहायता मिलती है। प्रतिदर्श को प्रारम्भ मे कुछ नियमो और शर्तो को मानते हुए सरल रूप में प्रस्तुत किया जाता है और फिर विभिन्न अपवादों या वास्तविक स्थितियो को ध्यान मे रखकर जटिल स्वरूप की ओर ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार आर्थिक व्यवस्था सम्बन्धी विभिन्न तत्वो या चरो (Variables) पर विचार किया जाता है। अन्ततः यह प्रतिदर्श वस्तु स्थिति को पूर्ण रूप से प्रदर्शित करने में असमर्थ होते हुए भी वास्तविक समस्या को समझने मे मदद करते है।

प्रतिदर्श की सहायता से समस्या को समझने और समस्या का प्रतिपादन करने हेतु विशिष्ट प्रकार के तथ्यो एव आंकड़ो की आवश्यकता होती है। इसलिए प्राप्त तथ्यो एव आंकड़ो मे से वाछित सामग्री का चुनाव करना पड़ता है क्योंकि अव्यवस्थित ढग से किये गये विभिन्न प्रकार के तथ्य स्वयं में वस्तुस्थिति को स्पष्ट नही करते। चुने हुए आंकड़ों को सक्षेप व सार रूप मे प्रस्तुत करने, उनकी तुलना करने एव उनसे समुचित निष्कर्ष प्राप्त करने के लिए सांख्यिकी का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार आज आर्थिक भूगोल सम्बन्धी समस्याओं का समुचित अध्ययन करने के लिए भूगोलवेत्ता को सांख्यिकी विधियो का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए। साथ ही इन विधियो का सावधानीपूर्वक प्रयोग किया जाना भी आवश्यक है क्योंकि आर्थिक प्रणाली स्वतन्त्र रूप से विकसित नही होती। उस पर मनुष्य के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सास्कृतिक आदि प्रणालियो का भी प्रभाव पडता है और आर्थिक व्यवस्था के विकास मे विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोणों, अनुभवों, विश्वासो, प्रेरणाओ, आदतो एवं आकाक्षाओ का योगदान रहता है जो विभिन्न मानव समुदायो के निर्णयो को प्रभावित करता है। इसलिए आर्थिक भूगोल में *आर्थिक व्यवहार से भिन्न उपयुक्त आचरण सम्बन्धी तथ्यो का समावेश भी रहता है* जिन्हें सांख्यिकी विधियो द्वारा मापकर प्रदर्शित किया जा सकता है।

यद्यपि ससाधनों, विशेष रूप से प्राकृतिक ससाधनो की उपलब्धि आज भी क्षेत्रीय रूप से ही होती है किन्तु पिछले दिनो की तुलना मे आज उनके विदोहन एव विविध उपयोग का स्वरूप विश्व-व्यापी अथवा ग्रहीय-स्तर का हो गया है क्योंकि यातायात और सदेश वाहन के साधनो ने पूँजी, श्रम और तकनीक का विश्व-व्यापी प्रचार-प्रसार कर दिया है। इसलिए वस्तुओ के उत्पादन, वितरण और उपभोग का

स्वरूप क्षेत्रीय आधार पर सही ढंग से प्रस्तुत नही किया जा सकता। उसके लिए तो सामान्य नियमों, सिद्धान्तों या प्रक्रियाओं की सहायता लेनी पडेगी क्योंकि सम्बन्धित आर्थिक क्रिया-कलाप अथवा व्यवसाय का क्षेत्र पूरे विश्व मे फैला रहता है और इस प्रकार बिखरे हुए विभिन्न मानव समूहों का मिला-जुला प्रतिनिधित्व उसमे पाया जाता है। उदाहरण के रूप में बागानी कृषि के लिए अनुकूल दशाएँ भूमध्य रेखीय प्रदेशों में होने पर भी वहाँ बागाती कृषि के द्वारा अधिकतम उत्पादन करने एवं प्राप्त सामग्री का उपयोग करने वाली जनसख्या उक्त क्षेत्र की ही नहीं होती। इसी तरह खनिज तेल की उपलब्धि के क्षेत्रों तथा उनका विदोहन और उपयोग करने वाली जनसंख्या के बारे में भी कहा जा सकता है। शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आदि से सम्बन्धित क्रिया-कलापो पर भी यही बात लागू होती है। अतः आज आर्थिक भूगोल का अध्ययन तथ्यों के क्षेत्रीय वितरण से ही सम्बन्धित न रहकर विभिन्न प्रकार के आर्थिक क्रिया-कलापो को प्रारम्भ करने एवं उन्हें विकसित करने में सहायक नाना प्रकार के सिद्धान्तों एवं प्रक्रियाओ पर अधिक जोर दे रहा है और उत्पादन के साधनों (भूमि, पूँजी, श्रम, व्यवस्था, साहस) तथा व्यापार के आवश्यक अगो—माँग और पूर्ति के सैद्धान्तिक विवेचन, स्थिति सम्बन्धी विश्लेषण एवं व्यावसायिक विश्लेषण पर विशेष जोर दे रहा है। मानवीय क्रिया-कलापों के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप को समझने के लिए ऐसा करना आवश्यक भी है। तकनीकी कौशल का विकास एवं वैज्ञानिक खोजों का लाभ आज विश्व के अधिकांश क्षेत्र समान रूप से उठाते हुए उत्पादन सम्बन्धी विविध आर्थिक क्रिया-कलापों में समान रूप से सलग्न हैं।

इस प्रकार कह सकते हैं कि "आर्थिक भूगोल अर्थ-तन्त्र के स्थानिक संगठन एवं प्रक्रिया का अध्ययन है।[13]"

अर्थशास्त्र से आर्थिक भूगोल की भिन्नता

अर्थशास्त्र में भी आर्थिक क्रिया-कलापो का अध्ययन किया जाता है। जिस प्रकार आर्थिक भूगोल के अर्थ एवं क्षेत्र मे समय के साथ-साथ परिवर्तन हुए हैं, उसी प्रकार अर्थशास्त्र को भी परिभाषा सम्बन्धी विभिन्न दौरो से गुजरना पड़ा है। अतः आर्थिक भूगोल व अर्थशास्त्र में अन्तर जानने से पूर्व अर्थशास्त्र के इस बदलते हुए स्वरूप पर भी एक दृष्टि डाल लेना समीचीन होगा। अर्थशास्त्र की परिभाषाओं को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

---

13 Economic Geography is concerned with the spatial patterns and processes of the economic system.

1. धन परिभाषाएं (Wealth definitions)

अपने प्रारम्भिक दौर में अर्थशास्त्र के अध्ययन मे धन पर विशेष बल दिया गया। अर्थशास्त्र के जनक एडम स्मिथ के अनुसार—

"अर्थशास्त्र राष्ट्रों के धन के स्वरूप तथा कारणो की खोज से सम्बन्धित है।"[14]

उस काल के चिन्तको, विचारको, दार्शनिकों एवं समाज-सुधारकों द्वारा इस विषय की कटु आलोचना किये जाने पर परिभाषा मे परिवर्तन किया गया।

2. कल्याण परिभाषाएं (Welfare definitions)

19वी शताब्दी के अन्त मे धन तत्व पर अधिक बल देने के स्थान पर उसे मानव कल्याण का साधन मात्र माना, इस दिशा में पहल मार्शल द्वारा 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त' (Principles of Economics) में की गई। उनके अनुसार—

"अर्थशास्त्र मानव जीवन के सामान्य व्यवसाय का अध्ययन है। इसमें व्यक्तिगत तथा सामाजिक क्रियाओ के उस भाग की जाँच की जाती है जिसका भौतिक सुख के साधनों की प्राप्ति और उपयोग से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है।"[15]

3. सीमितता परिभाषाएं (Scarcity definitions)

अर्थशास्त्र के पुराने ढांचे को, जो कि धन तथा भौतिक कल्याण पर टिका हुआ था, तोड़कर प्रो० रोबिन्स ने 1932 मे अपनी पुस्तक An Essay on the Nature and Significanance of Economic Science मे अर्थशास्त्र की परिभाषा एक नए दृष्टिकोण से दी—

"अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जिसमें साधनो तथा सीमित और वैकल्पिक उपभोग वाले साधनो से सम्बन्धित मानव-व्यवहार का अध्ययन किया जाता है।"[16]

इस परिभाषा द्वारा अर्थशास्त्र का वैज्ञानिक आधार मजबूत हुआ।

---

14. "Economics is a subject concerned with an enquiry into the nature and cause of wealth of nations." —Adam Smith

15. "Economics is a study of mankind in the ordinary business of life; it examines that part of individual and social action which is most closely connected with the attainment and with the use of material requisites of wellbeing." —Marshall

16. "Economics is the science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means Which have alternative uses." —Robins.

अर्थशास्त्र की आधुनिक परिभाषा

अर्थशास्त्र के विकास के साथ उसकी परिभाषा में परिवर्तन होता रहा ताकि परिभाषा नए विकास को ग्रहण कर सके। के.जी. सेठ ने अर्थशास्त्र की—'आर्थिक विकास केन्द्रित परिभाषा' इस प्रकार दी—

"अर्थशास्त्र उस मानव व्यवहार का अध्ययन करता है जिसका सम्बन्ध साध्यों के सन्दर्भ में साधनों के परिवर्तनों व विकास से होता है।"[17]

इस दिशा में प्रो० जे.के. मेहता ने बताया कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध इच्छाओं की सन्तुष्टि से नहीं वरन् इच्छाओं के अन्त से है जिससे कि इच्छारहित अथवा निर्वाण की स्थिति को प्राप्त किया जा सके। उनके अनुसार—"अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मानवीय आचरण का इच्छारहित अवस्था में पहुँचने के लिए साधन के रूप में अध्ययन करता है।"[18]

इस प्रकार अर्थशास्त्र की परिभाषा, विषय-क्षेत्र अध्ययन पद्धति एवं उद्देश्य भी समय के साथ-साथ बदलता गया है। संक्षेप में अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो धन के उपभोग, उत्पादन व विनिमय का मानव के कल्याण हेतु प्रयुक्त मानवीय व्यवहार का अध्ययन करता है। दूसरी ओर आर्थिक भूगोल मानव के आर्थिक क्रिया-कलापों अर्थात् उत्पादन, विनिमय एवं उपभोग के स्थानिक वितरण एवं प्रक्रिया का अध्ययन है।"[19]

आर्थिक भूगोल एवं अर्थशास्त्र के अध्ययन में उद्देश्य की दृष्टि से यही प्रमुख अन्तर है कि जहाँ आर्थिक भूगोल स्थानिक विषमता से प्रभावित होने वाले अर्थतन्त्र के क्षेत्रीय संगठन से उत्पन्न प्रादेशिक आर्थिक भू-दृश्यों की व्याख्या करता है वहाँ अर्थशास्त्र सीमित साधनों का समुचित आवंटन करके अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करने के मानवीय व्यवहार की ओर ध्यान देता है। आर्थिक भूगोल उन सभी तत्वों एवं प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है जिनमें एक स्थान से दूसरे स्थान में विभिन्नताएँ मिलती हैं एवं जिनके कारण विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न आर्थिक संगठन प्रतिरूप स्थापित एवं विकसित होते हैं जबकि अर्थशास्त्र किसी वस्तु विशेष की उन व्यवस्थात्मक एवं प्रक्रियात्मक विशेषताओं का अध्ययन करता है जिनसे न्यूनतम लागत से अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके।

---

17. "Economics studies human behaviour concerned with changes and growth in means in relation to ends. —K.G. Seth
18. "Economics is a science that studies human behaviour as a means to the end of wantlessness. —J.K. Mehta
19. Economics Geography is the study of spatial distribution and process of human economic activities (production, exchange and consumption).

आर्थिक भूगोल की मूलभूत संकल्पनाएँ

आर्थिक भूगोल मुख्यतया मानव के आर्थिक क्रियाकलापों की अवस्थिति एवं उनमें परस्पर सम्बन्ध का अध्ययन है। आर्थिक भूगोल के सम्पूर्ण विषय-क्षेत्र को समझने के लिए उसकी मौलिक संकल्पनाओं का उल्लेख करना आवश्यक है। आर्थिक भूगोल की मौलिक संकल्पनाएँ निम्नलिखित है—

1. मानव की आर्थिक क्रियाओं का क्षेत्रीय वितरण

आर्थिक भूगोल प्रमुख रूप से मानव के आर्थिक क्रिया-कलापों (उत्पादन, विनिमय एवं उपभोग) के स्थानिक वितरण व इनकी विशेषताओं का अध्ययन करता है।

2. आर्थिक क्रियाओं की अवस्थिति

आर्थिक भूगोल में न केवल मानवीय आर्थिक क्रियाकलापों के स्थानिक वितरण का अध्ययन किया जाता है अपितु उन क्षेत्रों की अन्य क्षेत्रों के संदर्भ में विद्यमान विशेषताओं का भी अध्ययन किया जाता है। प्रत्येक आर्थिक क्रिया के लिए क्षेत्र आवश्यक है। किसी विशेष आर्थिक क्रिया का पृथ्वीतल के कितने क्षेत्र पर प्रभुत्व है, इसका अध्ययन आर्थिक भूगोल की संकल्पना है। जैसे भारत में सूती वस्त्र उद्योग का केन्द्रीकरण महाराष्ट्र, गुजरात में अधिक हुआ है या संयुक्त राज्य अमरीका में निर्माण उद्योग झील तटीय क्षेत्र एवं अटलाण्टिक तटीय क्षेत्र में अधिक विकसित हुआ है। आर्थिक क्रियाओं के स्थानिक वितरण द्वारा ही उनके प्रारूपों (Patterns) का निर्माण होता है। भारत में लोहा, इस्पात एवं अन्य इन्जीनियरिंग उद्योगों का केन्द्रीयकरण, बंगाल एवं उड़ीसा में हुआ है और वहीं सघन जनसंख्या पाई जाती है।

3. आर्थिक क्रियाओं की विशेषतायें

प्रत्येक आर्थिक क्रियाकलाप की एक अलग-विशेषता होती है। यह उस क्षेत्र के वातावरण, मानवीय दक्षता एवं तकनीकी प्रगति की मात्रा पर निर्भर करती है। तकनीकी रूप से विकसित अर्थव्यवस्थाओं की आर्थिक क्रियाओं में कम विकसित देशों की आर्थिक क्रियाओं से पर्याप्त भिन्नता होती है। विकसित देशों में मानवीय श्रम की अपेक्षा मशीनों का प्रयोग अधिक किया जाता है। विश्व-मानचित्र पर सघन उत्पादक कृषि प्रदेश तकनीकी रूप से कम विकसित देश ही हैं जिनमें मशीनों का उपयोग कम किया जाता है।

4. आर्थिक क्रियाओं का अन्य घटनाओं से सम्बन्ध

आर्थिक क्रियाएँ केवल मानवीय प्रयास ही नहीं होती अपितु उनका अन्य घटनाओं से पर्याप्त सम्बन्ध होता है। आर्थिक क्रियाओं के सम्बन्ध चार प्रकार के होते हैं—

(i) कार्य-कारण सम्बन्ध
(ii) भौतिक, सांस्कृतिक घटना सम्बन्ध
(iii) अन्तर प्रादेशिक सम्बन्ध
(iv) भौगोलिक तत्व के सह-सम्बन्ध

इन सम्बन्धों के सन्दर्भ से ही किसी आर्थिक क्रिया-कलाप को पूर्णतया समझा जा सकता है।

5. क्षेत्रों की आर्थिक सम्बद्धता

किसी भी प्रदेश का निर्माण विभिन्न कारकों जैसे—भू-आकृति, जलवायु, मिट्टी, वनस्पति, खनिज पदार्थ, कृषि की फसलें, फैक्ट्रियाँ, गाँव, नगर, व्यापार, संचार व परिवहन के साधन आदि द्वारा होता है जिनके द्वारा उस प्रदेश की एक मिली-जुली सामान्य छाप होती है। इन विभिन्न तत्वों की इस सम्बद्धता को उस प्रदेश की आन्तरिक सम्बद्धता (Internal coherence) कहते हैं। प्रत्येक मानवीय आर्थिक क्रियाकलाप, भू-आकृति, जलवायु आदि प्राकृतिक तत्वों एवं सरकार, जनता, जनसंख्या आदि मानवीय कारकों द्वारा प्रभावित होता है। इन सबको जोड़ने में परिवहन के साधनों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। इन सबमें एक आन्तरिक सम्बद्धता होती है तथा उनकी एक मिली-जुली छाप का अध्ययन कर मानवीय क्रियाकलापों के स्वरूप व प्रारूपों को निश्चित किया जाता है।

6. आर्थिक क्रियाकलापों का वर्गीकरण

आर्थिक क्रियाओं को निम्नलिखित प्रमुख वर्गों में विभाजित किया गया है —

(1) प्राथमिक व्यवसाय—आखेट, मत्स्य उद्योग, एकत्रीकरण, कृषि, आदिम ढंग से किया गया खनन कार्य।

(2) द्वितीयक व्यवसाय—खनन तथा निर्माण उद्योग।

(3) तृतीयक व्यवसाय—परिवहन व व्यापार।

(4) चतुर्थक व्यवसाय—उच्च सेवाएँ जैसे शिक्षा, योजना, प्रबन्ध आदि।

7. आर्थिक क्रियाओं का सांस्कृतिक पक्ष

आर्थिक भूगोलवेत्ता आर्थिक क्रियाओं के स्थानिक वितरण का अध्ययन तटस्थ रहकर नहीं कर सकता। उसे विभिन्न प्रदेशों में निवास करने वाली जनसंख्या के

पेशों का, सामाजिक प्रथाओं का, पूंजी व श्रम की प्राप्ति की मात्रा का, तकनीकी ज्ञान के विकास का, सरकार व उसके द्वारा दी गई सहायता का, अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों का भी विश्लेषण करना आवश्यक होता है। इन सबका प्रभाव आर्थिक उत्पादन व विनिमय पर होता है।

8. आर्थिक भू-दृश्य की संकल्पना

प्रत्येक आर्थिक क्रियाकलाप पृथ्वीतल पर अवस्थित होता है। उसके निर्माण के लिए कई कारक सहायक होते है। किसी निर्माण उद्योग की स्थापना के लिए आवश्यक कच्चे माल प्राप्ति के क्षेत्रो से उसका सम्पर्क होना आवश्यक होता है। इसलिए दोनों स्थानों के बीच परिवहन मार्गो व साधनो की व्यवस्था होगी। उस निर्माण उद्योग मे श्रमिक भी होगे। अत: उनके निवास स्थान आदि भी उसमें सम्मिलित होगे। इन सबका एक मिला-जुला भू-दृश्य दिखाई पड़ेगा। इसी प्रकार एक कृषि से सम्बन्धित क्रियाकलाप का भू-दृश्य अलग प्रकार का होगा। इस भू-दृश्य का अध्ययन करना आर्थिक भूगोल की महत्वपूर्ण सकल्पना है। इसके द्वारा इन भू-दृश्यो का निर्माण करने वाले भौतिक-सांस्कृतिक तत्वों के मिले-जुले स्वरूप को समझा जाता है। इन आर्थिक भू-दृश्यों द्वारा ही किसी क्षेत्र विशेष की आर्थिक उन्नति के स्तर का पता लगाया जा सकता है। यदि किसी भू-दृश्य में परिवहन मार्गों एव साधनों का नितान्त अभाव दिखाई पडे, विरल बस्तियाँ हों तो इससे हम सरलता से अनुमान लगा सकते है कि प्रदेश का अभी आर्थिक विकास नहीं हुआ है।

9. परिवर्तन की संकल्पना

प्रत्येक क्षेत्र या स्थान का निर्माण कालान्तर में आकर होता है। प्रत्येक प्रदेश या क्षेत्र का आर्थिक भू-दृश्य आर्थिक क्रियाओ के परिवर्तन के साथ-साथ बदलता रहता है। जैसे कृषि कार्य का वर्तमान स्वरूप कई वर्षों के विकास का प्रतिफल है। आर्थिक उन्नति के साथ नई-नई इमारतों, सड़कों, भवनों, बिजली के खम्भों और तारों, यन्त्र गृहों तथा निवास के विशाल भवनों की स्थापना होती रहती है। इसलिए किसी आर्थिक क्रियाकलाप में परिवर्तन की संकल्पना भी महत्वपूर्ण है।

10. स्थानिक संगठन

किसी प्रदेश की आर्थिक क्रियाओं में कुछ पारस्परिक कार्यात्मक सम्बन्ध होते हैं जिनके द्वारा प्रदेश का आर्थिक सगठन रहता है। किसी ग्रामीण क्षेत्र में या नगरीय क्षेत्र में स्थित आर्थिक उद्योग परस्पर मिलजुल कर उस क्षेत्र के आर्थिक भू-दृश्य का निर्माण करते है।

11. प्रादेशिक आर्थिक विकास एवं योजना का अध्ययन

विभिन्न क्षेत्रों के साधनों का मूल्यांकन करके किसी स्थान पर किन क्रिया-कलापों की स्थापना की जानी चाहिए, इसका अध्ययन भी आर्थिक भूगोल की संकल्पना है। इस प्रकार की योजना का निर्माण तभी सम्भव है जबकि उस प्रदेश के विकास का ठीक-ठीक अध्ययन किया जाये।

□□□

2. आर्थिक भूगोल की अध्ययन पद्धतियाँ

दो प्रमुख अध्ययन पद्धतियाँ

सम्पूर्ण भौगोलिक अध्ययन में प्रायः दो प्रकार की पद्धतियाँ अपनाई जाती रही है :—

(i) क्रमबद्ध अध्ययन पद्धति (Systematic or Nomothetic Approach)

(ii) प्रादेशिक अध्ययन पद्धति (Regional Approach)

आर्थिक भूगोल आर्थिक क्रियाओं की अवस्थिति तथा इस अवस्थिति को प्रभावित करने वाले कारकों एवं उनके सम्बन्धो का अध्ययन है। इन आर्थिक क्रियाओं में उत्पादन, व्यापार एवं उपभोग मूलभूत है। इन पर ही समस्त आर्थिक क्रियायें अवलंबित है। भूतकाल में इन सभी आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन क्रमबद्ध और प्रादेशिक दोनो प्रकार की पद्धतियों द्वारा होता रहा है जिसे सम्मिलित रूप से विवरणात्मक या संस्थागत-अध्ययन पद्धति कहते है, किन्तु वर्तमान समय मे कुछ भूगोलवेत्ता इस पद्धति से सन्तुष्ट नही है। उन्होंने प्राकृतिक विज्ञानो में अपनाई जाने वाली सैद्धान्तिक अध्ययन पद्धति विकसित की है। इस प्रकार वर्तमान समय में आर्थिक भूगोल में निम्नलिखित दो अध्ययन पद्धतियाँ प्रचलित हैं :—

1. विवरणात्मक या संस्थागत अध्ययन पद्धति

इस प्रकार की अध्ययन पद्धति मे सम्पूर्ण वातावरण एवं उससे प्रभावित क्रिया-कलापों का अध्ययन किया जाता है। इसे आगमनात्मक पद्धति भी कहते है। संस्थागत पद्धति का मूलभूत तर्क यह है कि आर्थिक-क्रिया की अवस्थिति का प्रारूप व्यक्तियों द्वारा लिये गये निर्णयों की शृंखला का परिणाम है। ये व्यक्ति स्वतंत्र न होकर सांस्कृतिक संस्थाओं, समाज, राजनीतिक इकाई व आर्थिक स्थिति द्वारा प्रभावित होते है। ये निर्णय प्रमुख रूप से निम्नलिखित होते हैं :—

(i) व्यक्तिगत निर्णय।

(ii) सचालकों द्वारा लिये गये निर्णय।

(iii) सरकार द्वारा लिये गये निर्णय।

इस पद्धति की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का पूर्णतया ध्यान रखा जाता है। यदि किसी आर्थिक क्रिया-कलाप की वर्तमान सांस्कृतिक व प्राकृतिक दशाओं का वर्णन किया जाता है तो इसके लिए यह भी आवश्यक है कि उस क्रिया-कलाप के भूतकाल की प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक दशाओं का वर्णन भी उसमें सम्मिलित किया जाय; तभी हम किसी आर्थिक-क्रिया की वर्तमान अवस्थिति, दक्षता तथा भूमिका को समझ सकते हैं। आर्थिक क्रिया-कलापों

को धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि तत्त्वों से अलग-थलग करके नहीं देखा जा सकता। एक अन्य विशेषता इस पद्धति की यह है कि इसमें किसी क्षेत्र के सभी पहलुओं—भाषा व साहित्य, रीति-रिवाज, परम्पराओं, कानून, व्यवसाय, प्रारूप, स्थलरूप, मिट्टी, प्राकृतिक वनस्पति, जलवायु, दशाओं तथा इन सबका अन्तर्संम्बन्ध बताते हुए अध्ययन करने के कारण हर क्षेत्र अपने में अनुपम बन जाता है। उस क्षेत्र की अन्य क्षेत्रों से समानता व भिन्नता को भी देखा जाता है। ऐसा करने पर विभिन्न क्षेत्रों की विशेषताओं का ज्ञान हो जाता है साथ ही उनमें पाई जाने वाली समानताओं के आधार पर सामान्य प्रवृत्तियों की जानकारी भी दी जा सकती है। इस प्रकार संस्थागत पद्धति नियमों व सिद्धान्तों की बजाय प्रवृत्तियों पर अधिक जोर देती है।
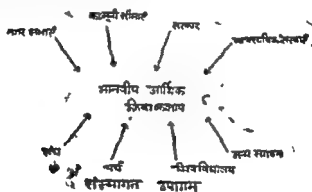
चित्र : 2.1

2. सैद्धान्तिक अध्ययन पद्धति (Theoretical Approach)

इस अध्ययन पद्धति में विषय-वस्तु का वैज्ञानिक विधियों से अध्ययन किया जाता है। इस पद्धति में पर्यवेक्षण से प्राप्त तथ्यों को व्यवस्थित करते हुए वर्गीकृत किया जाता है। संस्थागत अध्ययन पद्धति की भाँति इसमें भी संस्कृति व प्रकृति के प्रभाव को माना जाता है परन्तु इसे केवल सिद्धान्त को परिमार्जित करने के कारक [illegible] रूप में स्वीकार किया जाता है। इस पद्धति में संसार को मानव निर्मित विकास भूमि मानकर उपविभागों व उनके अन्तर्संम्बन्धों के द्वारा स्थानिक संरचना का वर्णन किया जाता है।

मानवीय आर्थिक क्रिया-कलाप का → पर्यवेक्षण, वर्गीकरण, स्पष्टीकरण] सिद्धान्त निर्माण
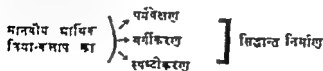
संस्थागत एवं सैद्धान्तिक पद्धतियां

समानता—

निम्नलिखित तथ्यों का अध्ययन दोनों पद्धतियों द्वारा किया जाता है—

(i) आर्थिक क्रियाओं की वास्तविक स्थिति।

(ii) आर्थिक क्रियाओं मे परस्पर अन्तर्सम्बन्ध।

(iii) आर्थिक क्रिया का प्राकृतिक एवं मानवीय वातावरण पर प्रभाव एवं प्राकृतिक व मानवीय वातावरण का आर्थिक क्रियाओं पर प्रभाव।

असमानता—

दोनों विधियों में मुख्य असमानता मानव व्यवहार की तार्किक भूमिका पर दिये जाने वाले जोर पर आधारित है। संस्थागत पद्धति के अनुयायी यह मानते है कि किसी भी आर्थिक क्रिया की अवस्थिति से सम्बन्धित मानवीय निर्णय अपने वातावरण से प्रभावित होते है। अतः इन प्रभावो को सम्मिलित किये बिना किसी भी स्थानिक संरचना का अध्ययन पूर्ण नही कहा जा सकता जबकि सैद्धान्तिक पद्धति के अनुयायी यह स्वीकार करते हैं कि मानवीय निर्णयों पर अनेक कारकों का प्रभाव पड़ता है परन्तु वे यह भी मानते है कि किसी भी आर्थिक क्रिया-कलाप का अध्ययन या उसकी स्थानिक संरचना का अध्ययन विशेष सिद्धान्तों या प्रतिदर्शों द्वारा ही किया जाना चाहिये। वातावरण के विभिन्न तत्वों के प्रभाव को एक-एक कर उनमें दर्शाते हुए मूल सिद्धान्त या प्रतिदर्श को आवश्यकतानुसार संशोधित किया जा सकता है। यह पद्धति भूतल पर उपस्थित आर्थिक क्रिया-कलापो की अवस्थिति का विवरण प्रस्तुत करने के स्थान पर आर्थिक क्रिया-कलापों संबंधी प्रक्रियाओ के अध्ययन पर ज़ोर देती है और समय व लागत तत्वो को आर्थिक क्रिया-कलापों से संबंधित निर्णयों के लिये अनिवार्य मानती है जबकि संस्थागत पद्धति के अनुयायी मानव व्यवहार को इतना नियंत्रित व नपा-तुला नही मानते। उनके अनुसार भूतल पर निवास करने वाले भिन्न-भिन्न मानव समूहों के लिए समय व लागत तत्वों का महत्व सर्वत्र समान नहो होता और न ही समान परिस्थितियों में वे समान प्रकार के आर्थिक निर्णय लेते हैं। अपनी धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक व सामाजिक पृष्ठभूमि के कारण उनमें होने वाली प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है।

सैद्धान्तिक पद्धति कीमूलभूत संकल्पनाएँ— एक सामान्य प्रक्रिया

मानव के निरन्तर विकास के परिणामस्वरूप लगभग सभी विषयों में वैज्ञानिक पद्धति अपनाई जाने लगी है। विश्वविद्यालयों में कला व विज्ञान के विषय उनकी विषयवस्तु के कारण अलग किए गये हैं। परन्तु वास्तव में तो वैज्ञानिक विषय वही है जिसका अध्ययन वैज्ञानिक तरीकों से किया जाय। किसी भी विषय को यदि निम्न प्रकरणों से समझा जाय तो वह वैज्ञानिक विषय ही कहा जायेगा।

1. पर्यवेक्षण (Observation)

हमारी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त की गई सूचना को ही पर्यवेक्षण कहा जाता है। इस अनुभवमूलक पर्यवेक्षण से भिन्न आर्थिक भूगोलवेत्ता विभिन्न भौगोलिक विशेषताओं का मात्रात्मक या गुणात्मक पर्यवेक्षण करता है जैसे वह जनसंख्या घनत्व, आवासीय भवनों की ऊँचाई, उद्योग की भूमि, भूमि मूल्य, सड़कों की चौड़ाई आदि के विषय में मात्रात्मक सूचना प्राप्त करता है। वह नगरीय प्रदेशों की निर्धनता, नगरीय भवनों में प्राप्त सुविधा व सुन्दरता का गुणात्मक दृष्टिकोण से पर्यवेक्षण करता है। परन्तु ये समस्त सूचनाएँ अनुभव से ही प्राप्त न कर जनगणना के आकड़ों, भूमि, उपयोग मानचित्रों आदि से प्राप्त होती हैं।

2. वर्गीकरण (Classification)

वैज्ञानिक पद्धति की दूसरी सीढ़ी वर्गीकरण के द्वारा पर्यवेक्षित तथ्यों को अधिक विस्तृत रूप से जाना जा सकता है। वर्गीकरण अध्ययन के उद्देश्यानुसार होना आवश्यक है। जैसे किसी स्थान के भूमि उपयोग के विषय में पर्यवेक्षण किया गया है तो व्यापारिक, औद्योगिक, कृषित, मनोरंजनात्मक व आवासीय आदि वर्गों में वर्गीकरण होना चाहिए या किसी प्रदेश का व्यावसायिक दृष्टिकोण से अध्ययन करना है तो प्राथमिक, द्वितीयक व तृतीयक वर्गों में बाँटा जा सकता है। वर्गीकरण के लिए निम्न बातों का ध्यान रखा जाना चाहिए—

(I) वर्ग एक ही विशेषता वाले होने चाहिए—जैसे भूमि उपयोग वर्गीकरण में व्यापारिक, औद्योगिक, कृषित आदि वर्ग बनाए गए। इनमें भूमि के अन्य वर्ग जैसे मूल्य भूमि वर्ग, उच्च मूल्य वर्ग आदि को सम्मिलित नहीं किया जा सकता है क्योंकि दोनों वर्ग अलग-अलग विशेषता वाले हैं।

(ii) उद्देश्य को अधिक स्पष्ट करने हेतु वर्गीकरण अधिक विस्तृत होने चाहिए। जैसे—मजदूरों का अध्ययन करने के क्रम में सभी व्यवसायों (प्राथमिक, द्वितीयक, तृतीयक) से सम्बन्धित मजदूरो को वर्गीकरण मे सम्मिलित किया जाना चाहिए।

3. स्पष्टीकरण (Explanation)

समस्या समाधान हेतु पर्यवेक्षण व वर्गीकरण के पश्चात् स्पष्टीकरण किया जाना चाहिए। यही मुख्य भाग होता है। स्पष्टीकरण तार्किक होना चाहिए। किसी प्रश्न के लिए सदैव स्पष्टीकरण सदैव एक सा नही होता। श्रेणी के अनुसार समस्या का समाधान होना चाहिए जैसे स्कूली विद्यार्थी को उनकी बुद्धि के अनुसार तथा उच्च शिक्षार्थी को उसके अनुसार स्पष्टीकरण करना ही उचित होता है। कोई भी स्पष्टीकरण तभी पूर्ण माना जा सकता है जब प्रश्नकर्ता को उस पर और अधिक प्रश्न पूछने की गुंजाइश न रहे। स्पष्टीकरण भी निम्न प्रकार के होते हैं—

(i) पुनरुक्ति सम्बन्धी स्पष्टीकरण (Tautological Explanation) इस प्रकार के स्पष्टीकरण में किसी जटिल प्रश्न का जटिल उत्तर दिया जाता है।

(ii) तार्किक स्पष्टीकरण (Logical Explanation)—इसमें समस्या का स्पष्टीकरण देने के लिए तर्कों का सहारा लेते है। भूगोल विषय में इसके द्वारा ही स्पष्टीकरण किया जाता है जैसे किसी विशेष स्थान में ही गेहूँ क्यों उत्पन्न होता है ? तो इसके समाधान मे 'क्योंकि वहां गेहूँ ही बोया जाता है' पुनरुक्ति सम्बन्धी उत्तर देने की अपेक्षा यह अधिक उपयुक्त रहेगा कि वहां की जलवायु, मिट्टी, मानवीय रुचि से गेहूँ का सम्बन्ध बताया जाय। परन्तु इसमें भी यह सावधानी रखना नितान्त आवश्यक है कि ऐसे तथ्यों को स्पष्ट करने में समय व धन का अपव्यय नहीं किया जाना चाहिए जो सभी जगह समान रूप से लागू होते हो।

4. भविष्यवाणी (Predication)

इतना सब कुछ अर्जित करने के पश्चात् भविष्य के लिए सिद्धान्त नियमन वैज्ञानिक विधि की अन्तिम सीढ़ी है। ये दो प्रकार की होती है—

(1) निश्चयात्मक (Deterministic)

(2) सम्भाव्यात्मक (Probabilistic)

मानविक भूगोल मे निश्चित रूप से भविष्यवाणी करना सरल नही क्योंकि मानवीय स्थानिक व्यवहार परिवर्तित होता रहता है। फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत कार्य के निश्चयात्मक भविष्यवाणी के आधार पर अधिक व्यक्तियों के कार्य के विषय मे सम्भाव्यात्मक भविष्यवाणी की जा सकती है।

उपरोक्त प्रकरण वैज्ञानिक विधियों के विषय में था जो सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिए प्रयुक्त होती हैं। परन्तु इसके साथ ही यहाँ पर इस विषय पर विचार-विमर्श करना भी आवश्यक हो जाता है कि किसी सिद्धान्त की संरचना किस प्रकार होती है क्योंकि इसके द्वारा सैद्धान्तिक उपागम को पूर्णतया समझा जाता है। आगे आने वाले पृष्ठों में की गई आर्थिक भूगोल की सैद्धान्तिक विवेचना को समझने हेतु यह पूर्व ज्ञान सहायक होगा।

सिद्धान्त संरचना (The structure of Theory)

(1) परिकल्पना (Hypothesis)—किसी भौगोलिक स्वरूप का स्पष्टीकरण यदि हम वैज्ञानिक विधि से करें तो हमें कुछ कल्पना करनी पड़ेगी। यह आदर्श विचार जो शैक्षिक कल्पना है, परिकल्पना कहलाता है।[1]

(2) पूर्व कल्पनाएँ (Assumption)—वास्तविक संसार में किसी समस्या को हल करने के लिए कुछ वास्तविकता से परे कल्पनाएँ करनी पड़ती हैं और ये पूर्व कल्पनाएँ 'यदि' से प्रारम्भ की जाती हैं। ये दो प्रकार की होती है—

(i) सामान्य पूर्व कल्पनाएँ (Weak assumptions)

ये कल्पनाएँ जो सामान्य हो। जैसे सभी व्यक्ति भोजन करते है।

(ii) विशिष्ट पूर्व कल्पनाएँ (Strong assumption)

वे कल्पनाएँ जिसके साथ अन्य तथ्यों का भी स्पष्टीकरण करना पड़ता है। जैसे यह कल्पना की जाय कि प्रत्येक व्यक्ति द्वारा ग्रहण किये जाने वाले भोजन की मात्रा उसके व्यवसाय पर निर्भर करता है तो इसके साथ व्यवसाय समूह का वर्णन करना अत्यावश्यक होगा। पूर्व कल्पनाओं के बारे में यह कहा जाता है कि जहाँ तक सम्भव हो, इनका स्वरूप सामान्य होना चाहिए और कम से कम संख्या में होने चाहिए ताकि निरीक्षण की जाने वाली घटनाओं को स्पष्ट रूप से बताया जा सके।

भौगोलिक स्थानिक सिद्धान्तों में भी कुछ पूर्व कल्पनाएँ या मान्यताएँ हैं। उदाहरण के लिए न्यूनतम प्रयत्न नियम। इसके अनुसार—यदि कोई व्यक्ति अ स्थान से ब स्थान को जाता है तो सरलतम, तीव्रतम, न्यूनतम कीमत वाले मार्ग को चुनेगा जहाँ उसे आराम व गति मिले तथा कम खर्चा देना पड़े।

3. स्वीकृत पक्ष या सिद्धान्त (Postulates)

ये सिद्धान्त का अन्तिम पक्ष हैं। ये वो परिणाम है जिसे हम पूर्व कल्पनाओं व तार्किक कारणों के द्वारा प्राप्त करते हैं। जैसे हम यह मानें कि नगर में व्यक्ति घर से कार्यस्थल को सुबह व कार्यस्थल से घर को शाम को आते जाते हैं। दूसरी यह धारणा कि दिन के समय परिवहन न्यून रहता है। इन पूर्व धारणाओं के आधार

1. The initial idea, or educated guess, we term a hypothesis.

पर यह निर्णयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि नगर में परिवहन की भीड़ के दो समय होते हैं—एक सुबह और दूसरा शाम को। यह निष्कर्ष सही ही होगा परन्तु किसी कारणवश इसमें गतिरोध आ सकता है। जैसे—रविवार को यह क्रम टूट जाता है या मान लें—नगर में हिमपात हो जाय या पूर्ण कर्फ्यू लगा हो तो भी यह क्रम टूट जायेगा। इसके लिए यह आवश्यक है कि किसी भी निश्चित सिद्धांत को 'यदि सभी परिस्थितियाँ समान रहें तो' से प्रारंभ किया जाना चाहिए।

परिकल्पना तथा सिद्धान्त में प्रमुख अन्तर यह है कि परिकल्पना किसी सिद्धान्त के लिए की गई प्रैक्षिक कल्पना है और इसी विचार पर पूर्व-कल्पना, तार्किक कारणों द्वारा किसी स्वीकृत तथ्य का निर्माण होता है जो सिद्धान्त कहा जाता है।

प्रतिदर्श निर्माण (Model Taking)

प्रतिदर्श द्वारा किसी सिद्धान्त को एक दृष्टि से समझा जा सकता है। यह प्रतिदर्श गणितीय सूत्रों, चित्रों, रेखाचित्रों व भौतिक प्रतिरूपों द्वारा दिखाया जा सकता है। वास्तविक धरातल पर अनेक जटिलतायें दिखाई पड़ती हैं। इस कारण हमें सिद्धान्त को भली-भांति समझने में कठिनाई होती है। अतः प्रतिदर्श हमारे वास्तविक संसार को हमारी इच्छानुसार व्यक्त करने में सहायक होते है। सिद्धान्त को सरलतम रूप में प्रस्तुत करना ही प्रतिदर्श निर्माण है।

प्रतिदर्श निर्माण वास्तव में सीखने की प्रक्रिया का मूलभूत भाग है। बच्चे भी प्रतिदर्शों द्वारा बाह्य वातावरण को समझते है। यह आवश्यक नहीं कि प्रतिदर्श हमें प्रत्यक्ष दिखे ही सही। मानसिक प्रतिदर्श भी होते है जिन्हें सिद्धान्त कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए दूरी और आने-जाने की आवृत्ति सम्बन्धी प्रतिदर्श को निम्नलिखित रेखाचित्र द्वारा समझा जा सकता है—
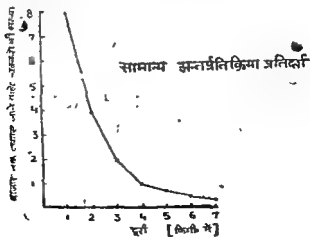
रेखाचित्र से स्पष्ट है कि चक्करों की संख्या दूरी बढ़ने के साथ निरन्तर घटती जाती है।

प्रतिदर्श का उपयोग—भूगोल एक ऐसा विषय है जो अनुभव मूलकज्ञान पर तो आधारित है ही, साथ ही जिसमें वितरण के वास्तविक तथ्यों का एकत्रीकरण किया जाता है और उनके आधार पर स्थानिक विभिन्नताओं को दर्शाया जाता है। अतः निःसन्देह प्रतिदर्श द्वारा सिद्धान्त निरूपण के लिए जो पूर्व-कल्पनाएँ की जाती हैं, उनकी सत्यता के बारे में तथ्यों के इस संग्रह द्वारा परख की जा सकती है। भूतल के विभिन्न क्षेत्रों में पाई जाने वाली भिन्नताओं के कारण इसे सब क्षेत्रों के लिये समान रूप में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। भूगोलवेत्ता के लिए प्रतिदर्श का निर्माण इसलिए भी कठिन होता है क्योंकि मानवीय व्यवहार बदलता रहता है। फिर भी इनका अनुसन्धानात्मक मूल्य एवं महत्व है। ये विभिन्न कारकों को स्पष्ट करते है। ये वास्तविक यथार्थ को पूर्णरूप से प्रकट नहीं कर सकते परन्तु फिर भी हमें किसी समस्या को समझने में मदद कर सकते हैं। साथ ही हमारे समझने के लिए प्रश्नों को सही दिशा प्रदान करते हैं। जैसे नगरीय संरचना में संकेन्द्रित वलय सिद्धान्त वास्तविकता से बहुत दूर है क्योंकि इसका उपयोग न तो नगरीय भूमि उपयोग समस्या के लिए किया जा सकता है और न ही प्रदूषण की समस्या को दूर करने के लिए। यह तो केवल नगरीय संरचना को एक दृष्टि में समझाने का कार्य करता है। अतः प्रतिदर्शों का उपयोग दैनिक समस्या के समाधान हेतु नहीं किया जा सकता। ये तो केवल सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट करने का कार्य करते हैं।

सैद्धान्तिक आर्थिक भूगोल की मूलभूत संकल्पनाएँ
(Basic Concepts in Theoretical Economic Geography)

प्रत्येक विषय के अध्ययन करने से पहले उस विषय की कुछ मूलभूत धारणाओं का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। सैद्धान्तिक आर्थिक भूगोल की भी कुछ मूलभूत संकल्पनाएँ हैं जिनके आधार पर ही उसमें सिद्धान्तों का मात्रिकी आधार पर अध्ययन किया जाता है जो निम्नलिखित है—
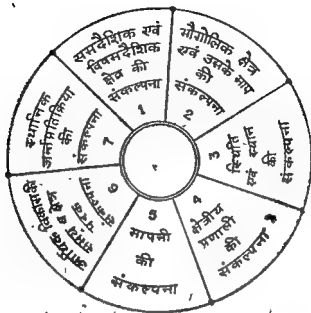
चित्र : 2.3

1. समदैशिक क्षेत्र व विषम दैशिक क्षेत्र की संकल्पना

(Isotropic space and Anisotropic space concept)

समदैशिक (Isotropic) शब्द ग्रीक भाषा से लिया गया है। 'isos' का अर्थ 'बराबर' 'tropus' का अर्थ 'धरातल' अर्थात् समतल धरातल है। पृथ्वी के धरातल का वह भाग जो उसके विस्तार में बराबर हो अर्थात् विभिन्नता रहित हो। यह गणितीय विचारधारा यूक्लिड (Euclid) space शब्द के से लिया गया है जिसका अर्थ चपटा द्विविमीय क्षेत्र होता है, जो कि अन्य भागों से अलग विशेषता लिए रहता है। वास्तविक विश्व जिसमे हम निवास करते हैं त्रिविमीय है तथा विभिन्नताओं से परिपूर्ण है जिसमे नदियाँ, दलदल, उबड़-खाबड़ क्षेत्र, जंगल, झीलें, नगरीय सीमाएँ, फैक्ट्री, आवासीय खण्ड आदि है अर्थात् वह हर दृष्टि से समान प्रकार का नही है। इस धरातल को विषमदैशिक (Anisotropic) कहते हैं। समदैशिक धरातल सैद्धान्तिक भूगोलवेत्ताओ के लिए एक प्रयोगशाला होती है। यह निर्देशित स्थिति है जिस पर कि वह असमतल धरातल के प्रभाव को) अंकित कर सकता है। इसके आधार पर विभिन्न कारकों में सम्बन्ध दर्शाते कर सकता है। इसी संकल्पना पर सभी भौगोलिक सिद्धान्त अवलम्बित हैं परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि समदैशिक धरातल एक कल्पना मात्र ही है। वास्तविक संसार मे ऐसा कहीं नही पाया जाता।

चित्र : 2.4

2. भौगोलिक क्षेत्र व उसकी माप

(Concept of geographic space and its measurements)

आर्थिक भूगोलवेत्ता को विभिन्न क्षेत्रीय प्रकार व विभिन्न क्षेत्रीय विकृतियों से परिचित होना चाहिए जिससे वह आर्थिक वातावरण के जटिल स्थानिक वितरण को वर्णित कर सके। भौगोलिक सिद्धान्त में सरलतम क्षेत्र समदैशिक (isotropic surface) होता है। यह 'न्यूटनिक क्षेत्र' है जिसकी धुरी निश्चित है तथा क्षेत्र के सभी माप इस धुरी के आस-पास स्थित हैं। यद्यपि भूतल पर किसी भी स्थान की अवस्थिति अक्षांश व देशान्तरों के द्वारा बताई जाती है परन्तु आर्थिक क्रिया-कलापों की दृष्टि व व्यावहारिक दृष्टि से किसी दूसरे स्थान के सन्दर्भ में किसी स्थान की स्थिति बताना अधिक उपयोगी रहता है और आर्थिक भूगोलवेत्ता को किसी स्थान की स्थिति इसी सन्दर्भ में बतानी होती है। उदाहरण के लिए किसी व्यापारिक फर्म के लिए बम्बई नगर की अवस्थिति अक्षांश व देशान्तर में बताए जाने की अपेक्षा दिल्ली, कलकत्ता, मद्रास या पूना के सन्दर्भ में बताना अधिक उपयोगी है।

(अ) क्रियाशील क्षेत्र (Operational space)

दूरी व क्षेत्र यदि समय व मूल्य के द्वारा मापे जायें तो उसे क्रियाशील क्षेत्र कहते हैं। आर्थिक भूगोल में विश्लेषण के लिए किसी स्थान की दूरी को समय में बताए जाने पर वह अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है, स्थानिक आर्थिक वातावरण में यह बताना अर्थहीन है कि नगर के केन्द्र से आवासीय भूमि का उपक्षेत्र कितने मील दूर तक फैला है? परन्तु यह बताना अधिक महत्वपूर्ण है कि कोई व्यक्ति कितने समय या कितनी तेजी से कार्यक्षेत्र से घर को आ जा सकता है। क्रियाशील क्षेत्र तीन प्रकार के होते हैं—

(i) समय क्षेत्र (Time space) (ii) मूल्य क्षेत्र (Cost space)
(iii) कार्य क्षेत्र (Action space)

(ब) क्षेत्रीय विकृतियाँ एवं आकृति निर्माण (Space distortions and space transformations)

समदैशिक धरातल को समय व दूरी के सन्दर्भ में बदलने के पश्चात् यह स्पष्ट हो गया कि सैद्धान्तिक उपागम भौतिक दूरी कोई महत्व नहीं रखती। हम

यह भली-भाँति जानते हैं कि किसी नगर मे अन्य नगर की अपेक्षा अधिक यात्रा खर्च होता है। नगर के ही विभिन्न भागों मे अलग-अलग यात्रा खर्च की दर होती है। हमे यह भी अनुभव है कि प्रथम 2 या 3 मील में यात्रा खर्च अधिक तीव्रता से बढ़ता है। ज्यों-ज्यों दूरी बढ़ती जाती है, यात्रा खर्च बढने की दर कम होती जाती है। वे रेखाएँ, जो समान यात्रा समय वाले स्थानो को जोड़ती है उन्हें समयात्रा समय (Isochrone) रेखाएँ कहते है। वे रेखाएँ, जो समान यात्रा खर्च वाले स्थानों को मिलाती है उन्हें समयात्रा मूल्य (isotims) कहते है। किस प्रकार यात्रा मूल्य व समय के द्वारा क्षेत्रीय विकृतियाँ उत्पन्न होती है। यह निम्न तथ्यो से स्पष्ट होगा—

(स) यात्रा मूल्य व समय परिमाप से उत्पन्न क्षेत्रीय विकृतियाँ
(Space distortions on the cost and time dimensions)

क्षेत्रीय विकृतता का सरलतम निर्माण यात्रा व्यय मूल्य द्वारा निर्धारित होता है। यात्रा व्यय दूरी के अनुपात मे नही बढ़ता वरन् प्रथम 2 या 3 मील तक बढने की तीव्र दर तथा बाद में यात्रा व्यय बढने की दर कम होती है। अतः रेखाचित्र मे चित्रित रेखा उन्नतोदर (convex) होती है तथा समान यात्रा व्यय रेखा के बीच की दूरी निरन्तर बढ़ती जाती है।
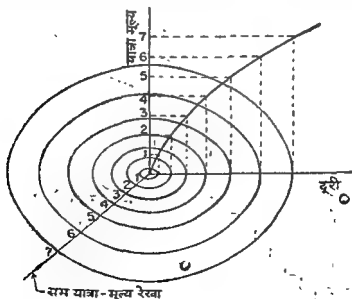
चित्र : 2.5

यात्रा दर का दूरी के कारण परिवर्तन (Travel Costs Time)

इसी के समान समय, दूरी, परिमाण द्वारा क्षेत्रीय विकलता उत्पन्न होती है। केन्द्रीय नगर के भीड़ भरे समय में हम इसका अनुभव कर सकते हैं। यात्रा समय के रेखाचित्र को देखकर यह कहा जा सकता है कि केन्द्रीय नगर की सीमा 5 या 6 समयात्रा-समय रेखा के बीच समाप्त हो गई है व समयात्रा-समय (isochrone) रेखा के बीच की दूरी 5 के बाद बढ़ती गई है।

चित्र : 2.6

चित्र : 2.7

(द) दूरी व मूल्य द्वारा क्षेत्रीय व्यतिक्रम

(Space inversions on the distance and Cost dimensions)

हमें यह अनुभव है कि किसी निर्दिष्ट स्थान पर जाने व वापस आने में दूरी में अन्तर आ जाता है। ऐसा उस समय होता है जब एक तरफा यातायात (one way traffic) होता है।

नगरीय क्षेत्र की असमता

चित्र : 2.8

जब दो बड़े नगरों में हम जाते है फिर हमें एक बड़े नगर से छोटे नगर को जाना हो तो यातायात सुविधा के अभाव में दूरी बढ़ जाती है।

भौतिक स्थिति का क्रियात्मक स्थिति में परिवर्तन

चित्र : 2.9

वास्तव में नगर अ तथा ब के बीच की दूरी कम है परन्तु ब को जाने के लिए स नगर से होकर जाना पड़ता है। अतः उसकी दूरी बढ़ गई व क्षेत्रीय व्यतिक्रम उत्पन्न हो गया। मानचित्र में जो दूरी बताई जाती है, वह वास्तव में विभिन्न परिवहन माध्यमों के उपयोग द्वारा भिन्न-भिन्न रूप से बढ़ती या घटती जाती है। किसी एक नगर में ही व्यस्त घण्टों में कम समय और खर्च में ही विभिन्न स्थानों पर पहुँचा जा सकता है क्योंकि उस समय वाहन कम किराये में अधिक दूरी तक पहुँचाते हैं। वे आसानी से उपलब्ध भी रहते है। अतः समय कम

इसी के समान समय, दूरी, परिमाण द्वारा क्षेत्रीय विकृतता उत्पन्न होती है। केन्द्रीय नगर के भीड़ भरे समय में हम इसका अनुभव कर सकते हैं। यात्रा समय के रेखाचित्र को देखकर यह कहा जा सकता है कि केन्द्रीय नगर की सीमा 5 या 6 समयात्रा-समय रेखा के बीच समाप्त हो गई है व समयात्रा-समय (isochrone) रेखा के बीच की दूरी 5 के बाद बढ़ती गई है।

चित्र : 2.6

चित्र : 2.7

(द) दूरी व मूल्य द्वारा क्षेत्रीय व्यतिक्रम
(Space inversions on the distance and Cost dimensions)

हमें यह अनुभव है कि किसी निर्दिष्ट स्थान पर जाने व वापस आने में दूरी में अन्तर आ जाता है। ऐसा उस समय होता है जब एक तरफा यातायात (one way traffic) होता है।

नगरीय क्षेत्र की असमता
चित्र : 2.8

जब दो बडे नगरो में हम जाते है फिर हमे एक बडे नगर से छोटे नगर को जाना हो तो यातायात सुविधा के अभाव मे दूरी बढ जाती है।

मौलिक स्थिति का क्रियात्मक स्थिति में परिवर्तन
चित्र : 2.9

वास्तव में नगर अ तथा ब के बीच की दूरी कम है परन्तु ब को जाने के लिए स नगर से होकर जाना पड़ता है। अतः उसकी दूरी बढ़ गई व क्षेत्रीय व्यतिक्रम उत्पन्न हो गया। मानचित्र में जो दूरी बताई जाती है, वह वास्तव में विभिन्न परिवहन माध्यमों के उपयोग द्वारा भिन्न-भिन्न रूप से बढ़ती या घटती जाती है। किसी एक नगर में ही व्यस्त घण्टों में कम समय और खर्च में ही विभिन्न स्थानों पर पहुँचा जा सकता है क्योंकि उस समय वाहन कम किराये में अधिक दूरी तक पहुँचाते हैं। वे आसानी से उपलब्ध भी रहते हैं। अतः समय कम

लगता है जबकि अन्य घण्टों में वाहनों की प्रतीक्षा करने में समय अधिक लगता है और वे किराया भी अधिक मांगते है।

(ह) आकृति निर्माण (Shape transformations)

एक समदैशिक मैदान किस प्रकार समय व मूल्य मायामों से क्रियाशील क्षेत्र में बदल जाता है, यह समझने के पश्चात् यह स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है कि नगरों के प्रदेश (दूरी पर आधारित) किस प्रकार जटिल अनियमित प्रतिरूपों में बदल जाते हैं और ये आकार प्रायः क्रियाशील मायामों के कारण नियमित धरातल में बदल जाते हैं। एक वृत्ताकार बाजार क्षेत्र जो समदैशिक था, किस प्रकार वास्तविक धरातल पर अनियमित बाजार क्षेत्र में बदल जाता है। यह सैद्धान्तिक पद्धति की मूलभूत संकल्पना है। उसका निर्माण यात्रा एवं समय मायाम के द्वारा होता है।

चित्र : 2.10

इसीलिए सिद्धान्त निर्माण करते समय कठिनाइयों को दूर करने के लिए वास्तविक धरातल की विषमताओं को भुलाकर एक समतल धरातल की कल्पना की जाती है।

यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि अधिक विकसित गणितीय विधि ने एक नई शाखा को जन्म दिया है जिसे संस्थिति विज्ञान (Topology) कहते हैं। इसे कई गणितज्ञ 'Rubber Sheet Geometry' भी कहते हैं।

3. स्थान व अवस्थिति की संकल्पना
(Concept of site and situation)

सिद्धान्त निर्माण के लिए भौगोलिक क्षेत्र के स्थान पर समदैशिक धरातल की कल्पना, मूलभूत संकल्पना है। फिर वह समदैशिक धरातल भी समय, दूरी मूल्य आदि कारकों से क्रियाशील क्षेत्र में परिवर्तित हो जाता है। अतः क्षेत्र सैद्धांतिक पद्धति की मूलभूत संकल्पना है। इसी की नींव के आधार पर आर्थिक भूगोल में भौगोलिक सिद्धान्त की प्रकृति को समझा जा सकता है। जिस प्रकार एक अर्थशास्त्री के लिए 'मांग एवं पूर्ति' का सिद्धान्त मूलभूत है, उसी प्रकार एक भूगोलवेत्ता के लिए 'स्थान व स्थिति' की संकल्पना मूलभूत है।

जो कुछ भी पृथ्वी की सतह पर स्थित है, जिसने पृथ्वी का कुछ भाग घेर रखा है, उसी की संकल्पना स्थान (site) की संकल्पना है।

(अ) स्थान संकल्पना (Concept of site)—प्रत्येक वस्तु पृथ्वी तल पर कुछ न कुछ स्थान घेरे है अतः भूगोलवेत्ता के लिए स्थान का अत्यधिक महत्व है। आर्थिक भूगोल मे सभी एकाकी आवास, बगीचे में बना फव्वारा आदि सभी नगर के अध्ययन में सम्मिलित है। नगर का प्रभावित क्षेत्र कई मीलों तक फैला हुआ रहता है। भूगोल के दृष्टिकोण से जब किसी स्थान पर विचार किया जाता है तो उसके आसपास के स्थान पर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है। स्थान की संकल्पना में उस घेरे हुए स्थान की आन्तरिक विशेषता बताई जाती है। यदि कोई मकान ढाल पर बना है तो उसकी ढलान की स्थिति होगी। यदि वह नदी के किनारे है तो उसका स्थान नदी तटीय होगा। इसी प्रकार यदि स्थान नगर है तो जनसंख्या, घनत्व, धर्म, वस्तु के मूल्य, नगर के कर आदि सब स्थान की विशेषताएँ होती है।

(ब) स्थिति की संकल्पना (Concept of situation)—स्थिति की संकल्पना में एक स्थान की अन्य स्थान से स्थानिक अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। किसी आवासीय मकान की स्थिति, उसके बाजार केन्द्र से दूरी, कार्य क्षेत्र से दूरी आदि द्वारा ज्ञात होती है। ये सभी कारक स्थान की विशेषता बताने वाले है परन्तु स्वयं स्थान की विशेषता नहीं है। इसी स्थिति से किसी भी भूमि का मूल्य भी निर्धारित हो जाता है। अतः स्थान किसी स्थिति के आंतरिक संबधो को बताता है जबकि स्थिति बाह्य सम्बन्ध को परिभाषित करती है।

4 क्षेत्रीय प्रणाली संकल्पना (Concept of space system)

प्रणाली विभिन्न अवयवों का एक समूह है जो आपस मे कुछ कारणो से संबंधित रहते है। जैसे—टेलिफोन प्रणाली, परिवहन प्रणाली। टेलिफोन प्रणाली में प्रत्येक टेलिफोन प्राप्तकर्ता अन्य प्राप्तकर्ता से जुड़ा रहता है। इसी तरह शहर के सभी भाग जो रेल व सड़कों द्वारा जुड़े हुए हैं, मिलकर परिवहन प्रणाली बनाते हैं। प्रणाली के सभी अंग एक-दूसरे से सम्बन्धित रहते है जैसे-परिवार प्रणाली। इसका प्रत्येक सदस्य जन्म व विवाह द्वारा एक-दूसरे से बंधा रहता है। प्रणाली दो प्रकार की होती है

1. खुली प्रणाली (Open system)—यह वह प्रणाली है जिसमें अंग किसी अन्य अंग द्वारा संचालित होते है। जैसे, शरीर प्रणाली। शरीर भोजन, तापमान, वायु आदि द्वारा संचालित होता है। इस पर मनुष्य का नियन्त्रण नही होता है।

2. बन्द प्रणाली (Closed system)—यह वह प्रणाली है जिसमें उसे बन्द भी किया जा सकता है अर्थात् उस पर मानव का नियन्त्रण होता है। जैसे—टेलिफोन प्रणाली, परिवहन प्रणाली।

क्षेत्रीय प्रणाली की संकल्पना को स्पष्ट करने से पूर्व प्रणाली के आंतरिक कारक व बाह्य कारक को समझना आवश्यक है।

आन्तरिक कारक वे कारक हैं जो प्रणाली में ही होते है। जीव विज्ञान प्रणाली में प्रत्येक भाग का आकार अन्य भाग द्वारा सम्बन्धित होता है। जैसे हाथ की लम्बाई शरीर के बढने की गति द्वारा ही निर्धारित होती है। इन्हें स्वतः वृद्धि भी कहते है।

बाह्य कारक वे कारक है जो किसी प्रणाली को बाह्य तौर पर प्रभावित करते हैं। जैसे किसी वस्तु का मूल्य, वहाँ परिवहन दर, सरकार की नीति, उपभोग की मात्रा आदि से निर्धारित होता है या परिवहन प्रणाली समय व जनसंख्या घनत्व द्वारा निर्धारित होती है।

सभी प्रणालियाँ क्षेत्रीय प्रणाली ही होती है, यदि उन्होंने स्थान घेर रखा हो। एक घड़ी बन्द प्रणाली है जिसने स्थान घेर रखा है। पर यह प्रणाली भूगोलवेत्ता के लिए अधिक महत्वपूर्ण नही है। भूगोल मे क्षेत्रीय प्रणाली प्रादेशिक स्तर पर निर्धारित होती है। वह वस्तु जिसने स्थान घेर रखा है, दो संकल्पनाएँ प्रस्तुत करती है—!

1. स्थान 2. स्थिति

इन दो तत्वो द्वारा क्षेत्रीय प्रणाली को परिभाषित किया जा सकता है। स्थान जो घेरा हुआ है व दूरी जो सम्बन्ध को निर्धारित करती है, जहाँ दूरी इतनी कम है कि समय व मूल्य उपस्थित नही होते तो वह क्षेत्रीय प्रणाली नही है जैसे-घड़ी प्रणाली। जबकि एक मार्ग प्रणाली जिनमे समय व मूल्य द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान मे अन्तःप्रतिक्रिया होती है, क्षेत्रीय प्रणाली है। आर्थिक भूगोल के अध्ययन में आर्थिक प्रणाली मुख्य विषय-वस्तु है।

आर्थिक प्रणाली

आर्थिक प्रणाली से तात्पर्य एक ऐसे संगठन से है जिसके द्वारा मानव अपनी आवश्यकतानुसार ससाधनो का उपयोग करता है। आर्थिक प्रणाली को निम्नलिखित तीन प्रमुख भागो मे विभाजित किया जा सकता है :—

1. उत्पादन (Production)
2. विनिमय (Exchange)
3. उपभोग (Consumption)

इन तीनो क्रियाकलापो की उत्पत्ति के लिये प्रमुख रूप से उत्तरदायी कारक हैं माँग जो व्यक्तियो, समूहो या समाज द्वारा की जाती है। ससाधनो के वितरण व सीमितता के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि सर्वप्रथम यह निर्णय लिया जाय कि इसे कहा विपरीत किया जाय। आर्थिक प्रणाली में वह नियन्त्रक कारक बाजार है। अतः आर्थिक प्रणाली का जन्म माँग, पूर्ति व मूल्य द्वारा होता है।

एक अर्थशास्त्री से अलग आर्थिक भूगोलवेत्ता के लिए स्थान का भी पर्याप्त महत्व है। स्थानिक भिन्नता के कारण ही माँग व पूर्ति का जन्म होता है तथा

इस मांग पूर्ति की गतिशीलता को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला कारक दूरी है। सभी आर्थिक क्रिया-कलाप स्थान का उपभोग करने वाले है अतः आर्थिक प्रणाली में स्थान का अत्यधिक महत्व है।

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि किसी भी प्रणाली के अंगों मे पारस्परिक अन्तर्संम्बन्ध होता है। अन्तर्सम्बन्धता उसकी प्रमुख आवश्यकता है। आर्थिक प्रणाली में यह सम्बन्ध परिवहन साधनों द्वारा होता है। इसके अभाव मे कोई भी आर्थिक प्रणाली 'भूतो का नगर' (ghost town) बन सकती है। यदि किसी स्थान पर सभी भौतिक साधन एवं मानवीय साधन जैसे—होटल, मकान, सुनार, लुहार आदि की दुकानें, सरकारी कार्यालय आदि है परन्तु इसमें परिवहन साधनो के अभाव में गति या अन्तर्सम्बन्ध नही तो वह मृतप्रायः है।

विश्व के विषय में जानने हेतु प्रणाली के प्रयोग की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :—

1. एक प्रणाली में विभिन्न अंगो में पूर्णता व अन्तर्संम्बन्धता (interdependence) का गुण पाया जाता है। प्रणाली के किसी भाग में परिवर्तन का प्रभाव तेजी से अन्य भागों पर भी पडेगा।

प्रणाली विधि द्वारा विश्लेषण किये जाने से एक अन्य लाभ यह है कि इसमें सूक्ष्म (microscale) तत्व से लेकर विशाल पैमाने (macroscale) तक के सभी प्रकारों के सभी स्तरों का विश्लेषण हो जाता है। एक व्यापारिक फर्म के विश्लेषण के साथ यह बात भी ध्यान रखना आवश्यक होता है कि वह फ़र्म किसी बड़ी फर्म का उप विभाग है। एक छोटे अणु से लेकर परमाणु, तत्व, कोशिका, जीव, समाज, विश्व, ब्रह्माण्ड तक इस प्रणाली में सम्मिलित हैं।

प्रणाली के विभिन्न स्तरों के वर्णन के साथ ही साथ प्रणाली की वातावरण सकल्पना भी पर्याप्त महत्वपूर्ण है। किसी भी प्रणाली में वातावरण उन सभी
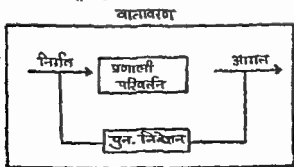
एक सामान्य खुली प्रणाली
चित्र 2.11

तत्वो का समूह होता है जिसके अगो मे परिवर्तन से प्रणाली पर सर्वाधिक प्रभाव पडता है तथा उसके स्वयं के अग किसी प्रणाली से परिवर्तन किए जाने से परिवर्तित हो जाते हैं"।[2]

समाज द्वारा उत्पन्न माँग आर्थिक प्रणाली के व्यवहार को प्रभावित करती है। एक व्यापारिक फर्म के लिए वातावरण के सभी तत्वों जैसे—व्यवहार, उत्पादन सस्थान, अन्य व्यापारिक फर्में, उपभोक्ता माँग, शासकीय क्रिया-कलाप आदि को प्रभावित करता है। आर्थिक प्रणाली के जन्म की प्रक्रिया को निम्नलिखित आलेख द्वारा समझा जा सकता है।

वस्त्रों का निर्माण करने वाला एक व्यापारी सभी प्रकार के कच्चे माल या निर्गतो (inputs) को स्थान-स्थान से मँगवाता है। वे किसी विशेष प्रक्रिया द्वारा निर्मित सामग्री या आगत (output) में बदले जाते है। इस निर्मित सामग्री का पुनः परिवहन होता है तथा ये उपभोक्ता को प्राप्त हो जाते है। किसी व्यक्ति के लिये निर्गत अन्य व्यक्ति के लिये आगत हो सकते हैं। इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है। साधारण शब्दों में इसे एक प्रणाली व उसके वातावरण के बीच 'शक्ति' का विनिमय चक्र भी कहा जा सकता है। इस चक्र को पुनः निवेशन भी कहते हैं जिसका अर्थ प्रणाली मे निर्गत का आगत के कुछ भागो की वापसी होता है।

अतः आर्थिक प्रणाली की सकल्पना सैद्धान्तिक आर्थिक भूगोल की मुख्य सकल्पना है।

5. स्केल की सकल्पना (Concept of scale)

भू तल का चित्रण किसी समतल कागज पर करने हेतु किसी मापनी की आवश्यकता पड़ती है। अतः भूतल के प्रदेशों व कागज पर बनाए गए मानचित्र में जो अनुपात होता है उसे मापनी (scale) कहते है। आर्थिक भूगोल में मानवीय आर्थिक क्रियाकलाप के स्थानिक विवरण को बताया जाता है अतः इसमें स्केल की सकल्पना का महत्व स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है। मापनी विभिन्न मापो का एक सामान्यीकरण है। मापनी को निश्चित् करने मे इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिये कि मानचित्र किस उद्देश्य से बनाया जा रहा है। जितने छोटे क्षेत्र का अध्ययन किया जायेगा, उसका स्केल उतना ही बडा होगा। इस प्रकार के मान-चित्र मे सूक्ष्म तथ्यो का भी चित्रण किया जा सकेगा। जितने छोटे स्केल पर मानचित्र बनाया जायेगा, वह बड़े क्षेत्र का ही होगा इसमे छोटे तथ्यों का गौण स्थान रहेगा। यदि भारत के औद्योगिक क्षेत्रों का चित्रण करने वाले मानचित्र मे कोटा नगर की फैक्ट्री को ढूँढा जाय तो वह उसमे नहीं मिलेगी। इसके लिए बडे

2. "For a given system the environment is the set of all objects a change in whose attributes affect the system and also those objects whose attributes are changed by the behaviour of the system" —Hall and Fogeh

स्केल पर कोटा नगर का मानचित्र ही उपयुक्त रहेगा। अतः सैद्धान्तिक विवेचन के लिए स्केल की संकल्पना का अत्यधिक महत्व है। स्केल द्वारा ही वास्तविक व चित्रित प्रदेश में तुलना या अनुपात को दिखाया जा सकता है।

6. स्थानिक अन्तंप्रतिक्रिया की संकल्पना (Concept of Spatial interaction)

पृथ्वी तल पर प्रत्येक वस्तु गतिशील है। विभिन्न वस्तुओं, विचारों व मनुष्यों की एक स्थान से दूसरे स्थान को गतिशीलता बनी रहती है। वस्तुओं की गति परिवहन के साधनो, विचारों की गति, सचार साधनो एवं मनुष्यों की किसी सवारी के द्वारा होती है। इसे ही स्थानिक पारस्परिक क्रिया कहते है। मानवीय क्रिया-कलाप इस गतिशीलता द्वारा ही विकसित होते है। अतः यह आर्थिक भूगोल मे सैद्धान्तिक उपागम की मूलभूत संकल्पना है।

7. आर्थिक विकास की समय व क्षेत्र परक संकल्पना
(Concept of the Time and Space in the Economic Development)

किसी स्थान पर एक प्रकार की आर्थिक क्रिया के प्रारम्भ होने के साथ ही वह क्षेत्र सक्रिय हो उठता है। उस आर्थिक क्रिया-कलाप के अवस्थित होने से उस स्थान विशेष मे अन्य प्रकार की मांगें भी जन्म लेने लगती है जिनकी पूर्ति के लिए और अधिक आर्थिक क्रियायें प्रारम्भ की जाती है। इस प्रक्रिया को वृद्धिकारी प्रभाव (multiplying effect) कहते है। एक आर्थिक क्रिया-कलाप पर आधारित या उससे सम्बन्धित कई अन्य क्रियायें स्थापित होने पर वे समय के साथ बढ़ती जाती है। इसे आर्थिक विकास की समय परक संकल्पना कहते है। इसके साथ ही इस बात पर भी ध्यान दिया जाना आवश्यक है कि सभी स्थानों पर एक सा ही विकास क्रम नही चलता है। कुछ क्रिया-कलाप तेजी से क्षेत्रीय विस्तार पाते है और कुछ का क्षेत्रीय विकास सीमित रह जाता है। इसे आर्थिक विकास की क्षेत्र परक संकल्पना कह सकते है।

किसी क्षेत्र में नये उद्योग के स्थापित होने, नई कृषि भूमि विकसित होने या नये व्यापारिक केन्द्र के प्रारम्भ होने पर वहां की क्या स्थिति बन जाती है इसका अध्ययन बड़ा दिलचस्प होता है। वृद्धिकारी प्रभाव को सामान्य तौर पर अग्रांकित रेखाचित्र से समझा जा सकता है—
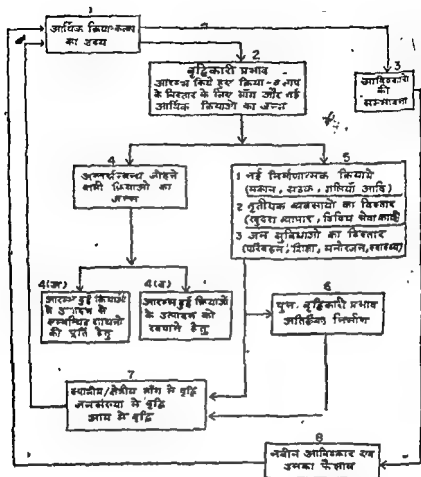
चित्र 2.12

यद्यपि उपर्युक्त संकल्पनाओं पर विवरणात्मक पद्धति के अन्तर्गत भी किसी न किसी रूप में ध्यान दिया जाता रहा किन्तु भौगोलिक अध्ययन को अधिक सूक्ष्म एवं विश्लेषणात्मक बनाने के लिये सैद्धान्तिक पद्धति के अन्तर्गत अध्ययन का आधार ही इन्हें बनाया गया है। इसलिए पाठकों को इन संकल्पनाओं को भली-भांति हृदयंगम कर लेना चाहिये।

□□□

3. आर्थिक वातावरण एवं उपभोग

आर्थिक वातावरण

वातावरण से तात्पर्य उन सभी तथ्यों, स्थितियों और दशाओं से है जो किसी वस्तु के चारों ओर विद्यमान होती है तथा जैविक व अजैविक वस्तुओं पर प्रभाव डालती है। निर्जीव की अपेक्षा जीवित वस्तुओं के विकास और सवर्द्धन पर इसका प्रभाव अधिक पड़ता है। समस्त जीव-जन्तु एवं वनस्पति वर्ग इससे प्रभावित होता है। प्रारम्भ में वनस्पति शास्त्रियों एवं जन्तु वैज्ञानिकों ने इसका विश्लेषण किया। बाद में मानव-शास्त्रियों व समाजशास्त्रियों द्वारा भी इसका गम्भीर अध्ययन किया जाने लगा।

वनस्पति पारिस्थैतिक वैज्ञानिक (Ecologist) तौसले के अनुसार प्रभावकारी दशाओं का वह सम्पूर्ण योग, जिसमें जीव रहता है, वातावरण कहलाता है। अमेरिकन मानवशास्त्री हर्संकोविट्ज के अनुसार "वातावरण उन समस्त बाहरी दशाओं और प्रभावों का योग है, जो प्राणी के जीवन और विकास पर प्रभाव डालते है।" समाजशास्त्री जिस्बर्ट के अनुसार—वातावरण उन सबको कहते है जो किसी वस्तु को निकट से घेरे हुए हैं, और उस पर प्रभाव डालता है। इसी प्रकार एक अन्य समाजशास्त्री रॉस के अनुसार–वातावरण कोई बाहरी शक्ति है जो हमें प्रभावित करती है।

संक्षेप में हम कह सकते है कि वातावरण वह परिवृत्त है जो मानव को प्रत्येक ओर से घेरे हुए है और उसके जीवन तथा क्रियाओं पर प्रभाव डालता है। इस परिस्थिति में मनुष्य से बाहर के समस्त तथ्य, वस्तुएँ, स्थितियाँ और दशाएँ सम्मिलित होती हैं जो मनुष्य के क्रियाकलापों को प्रभावित करती हैं।

आर्थिक भूगोल मानवीय—आर्थिक क्रिया-कलापों की अवस्थिति व उन क्रिया-कलापों में अन्तर्सम्बन्ध का अध्ययन है। मानवीय आर्थिक क्रिया-कलाप स्वत: विकसित नहीं होता अपितु वातावरण द्वारा प्रभावित है। मनुष्य पर प्रभाव डालने वाली वस्तुओं को दो वर्गों में रख सकते है—प्राकृतिक व सांस्कृतिक। मनुष्य जितने प्राकृतिक वातावरण द्वारा प्रभावित होते है, उतने ही सांस्कृतिक वातावरण द्वारा भी। मानवीय क्रियाओं द्वारा निर्मित वह वातावरण ही आर्थिक वातावरण है जिसके अन्तर्गत मानव द्वारा स्थापित उद्योग, परिवहन के साधन, कृषि कार्य तथा अन्य व्यवसायों से सम्बन्धित दृश्य इत्यादि सम्मिलित है। किसी प्रदेश में किस प्रकार के क्रिया-कलापों की स्थापना हुई है और क्यों? उनमें परस्पर अन्तर्सम्बन्ध क्या है? प्रकृति द्वारा इन सब क्रियाओं के लिए उपलब्ध, परिवृत्त, आर्थिक वातावरण का आधार है क्योंकि मानवीय आर्थिक क्रियाओं के आधार प्राकृतिक संसाधन है। प्राकृतिक संसाधन मुख्यतः निम्नलिखित हैं—

सूर्य, भूमि, मिट्टी, जल, खनिज, तथा जैविक संसाधन। इन संसाधनो के उपयोग मे क्षेत्रीय भिन्नता पाई जाती है। परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न मानव समुदायो की आर्थिक दशा भी अलग-अलग प्रकार की होती है।

विकास के स्तर

विश्व की सभी अर्थव्यवस्थाएँ प्राथमिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने मे या संसाधनों का उपयोग करने मे समान स्तर पर कार्यरत नही है। ऐतिहासिक क्रम मे प्राथमिक क्रियाओ जैसे—आखेट, एकत्रीकरण से कृषि, कृषि से निर्माण उद्योग, फिर सेवाओं का वाणिज्यिक उत्पादन आदि, आर्थिक परिवर्तन तो सर्वविदित है। इनसे विदित होता है कि आर्थिक क्रियाओं का एक ऐतिहासिक क्रम है जिसमे प्रत्येक स्तर अपने से पहले स्तर से अधिक विकसित है।

(अ) रोस्टोव का वर्गीकरण—

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डब्ल्यू. डब्ल्यू. रोस्टोव ने मानवसमाज के आर्थिक विकास के प्रमुख पाँच स्तर बताए है—

(1) परम्परागत समाज—इस प्रकार के समाज मे मनुष्य अपने समय की प्राचीन परिपाटियो के अनुसार कार्य करता रहता है। वैज्ञानिक आधार पर उत्पादन मे सुधार करने का कोई प्रयत्न नही किया जाता है। मानव सभ्यता के इतिहास मे यह काल बड़े लम्बे समय तक चला और वर्तमान में विश्व के पिछड़े हुए क्षेत्रों मे इसी प्रकार का समाज पाया जाता है।

(2) पर्व परिवर्तन काल—इस अवस्था में समाज के कुछ नवयुवको मे जागृति होने से उन्होंने कुछ लीक से हटकर कार्य करना प्रारम्भ किया है। यह काल संक्रमण काल कहा जा सकता है।

(3) परिवर्तन काल—इस प्रकार के समाज में प्राचीन मान्यताओ का स्थान नवीन आविष्कारो द्वारा ले लिया जाता है। जिन व्यक्तियों ने परिवर्तन का कार्य किया, वही समाज के कर्णधार बन गए और अर्थव्यवस्था मे उन्ही का प्रभुत्व पाया जाता है।

(4) परिपक्वता की ओर—इस अवस्था मे परिवर्तन काल मे स्थापित नवीन क्रिया-कलापों में परिपक्वता आ जाती है, मशीनीकरण बढ जाता है, परिवहन व संचार के साधन अधिक जटिल हो जाते है और इन सब के प्रभाव से उत्पादन की मात्रा बढ जाती है।

(5) अत्यधिक उपभोग वाला समाज—निरन्तर तकनीकी विकास से मानवीय श्रम का स्थान मशीनों द्वारा ले लिए जाने पर उत्पादन की प्रक्रिया बदल जाती है। जिसके प्रभाव से कला व शिक्षा के क्षेत्र मे भी उन्नति होने लगती है। उपभोग वृद्धि से माँग निरन्तर बढती जाती है परिणामस्वरूप उत्पादन भी निरन्तर

बढ़ता चला जाता है। अति विकसित मानव समाजों में इस प्रकार का आर्थिक विकास देखने को मिलता है।

उपर्युक्त सामाजिक स्तर जहां एक ओर निरन्तर विकास कर रहे किसी समाज की विभिन्न आर्थिक अवस्थाओं को बताते है, वही दूसरी ओर विश्व में पाए जाने वाले अलग-अलग समाजों का भी चित्रण करते है।

(ब) विकसित एवं विकासशील समाज—

संक्षेप मे आर्थिक विकास के आधार पर विश्व के देशो को दो प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) वे देश जो आर्थिक व तकनीनी रूप से विशिष्ट हैं।

(2) वे देश जो आर्थिक व तकनीकी रूप से कम विकसित है।

विकसित शब्द से तात्पर्य उन प्रदेशो से है जहाँ मानव व प्राकृतिक संसाधनो का उपयोग अपेक्षाकृत उच्च क्षमता स्तर पर होता हो। परन्तु किसी क्षेत्र को पूर्ण विकसित या पूर्ण अविकसित कह देना न्यायोचित नही कहा जा सकता। इस क्रम मे निम्नलिखित बातें भी ध्यान मे रखी जानी चाहिये—

(i) जो प्रदेश आर्थिक व तकनीकी दृष्टि से विकसित है। इसका तात्पर्य यह नही कि वे सांस्कृतिक रूप से सम्पन्न हो।

(ii) विकास अवयंता एक स्थान से दूसरे स्थान पर भी परिवर्तित होती है। एक विकसित राष्ट्र में कुछ क्षेत्र ऐसे हो सकते है जो अविकसित हो व कम विकसित देशों मे भी ऐसे लघु क्षेत्र पाए जा सकते हैं।

(iii) विकास के स्तर समयानुसार परिवर्तित होते है। यदि किसी क्षेत्र के व्यक्ति आर्थिक विकास की आवश्यकता हेतु प्रयत्न करें और उन्हे सुविधायें भी मिल जायें तो वे विकसित हो सकते है। इसी तरह किसी क्षेत्र का पतन भी हो सकता है। मानव सभ्यता के विकास के इतिहास मे उत्थान व पतन का क्रम इस तथ्य को उजागर करता है।

वर्गीकरण के आधार

विश्व को विकसित एव विकासशील वर्गो मे रखने के निम्नलिखित आधार हो सकते है—

(1) कृषि में श्रमिको का स्थान—जिस देश में कृषि मे काम करने वाले श्रमिको की संख्या कम रहती है। इससे सिद्ध होता है कि वह देश तकनीकी दृष्टि से सम्पन्न है। वहाँ पर मशीनो द्वारा ही समस्त कार्य किया जाता है। इसके विपरीत कम विकसित देशो में मशीनो का अभाव होने के कारण श्रमिक अधिक संख्या मे कार्य करते है। अमरीका जैसे विकसित राष्ट्र मे इसे देखा जा सकता है वहाँ पर श्रमिको के स्थान पर मशीनें ही कार्य करती हैं।

(2) प्रति व्यक्ति शक्ति उपभोग—किसी देश मे शक्ति का अधिक उपभोग यह प्रमाणित करता है कि वहाँ अधिक मशीनीकरण हुआ है। जो देश जितना अधिक शक्ति का उपभोग करता है वही तकनीकी दृष्टि से सम्पन्न राष्ट्र है।

(3) प्रति व्यक्ति आय—किसी देश में मशीनीकरण होने से उत्पादन भी अधिक होगा। अतः वह उतना ही अधिक सम्पन्न होगा। इसलिए प्रति व्यक्ति आय भी अधिक होगी। इसके विपरीत कम विकसित देशों में जहाँ व्यक्ति अपनी दैनिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने में समर्थ नहीं, वहाँ प्रति व्यक्ति आय कम ही होती है।

(4) नगरीकरण की अवस्था—देश की जनसंख्या में नगरीय जनसंख्या का प्रतिशत बढ़ता जाना भी विकसित राष्ट्र का एक लक्षण माना जाता है।

तकनीकी रूप से उन्नत अर्थव्यवस्थाओं के लक्षण

सभी तकनीकी रूप से विकसित अर्थव्यवस्थाओं में अधिकांशतया निम्नलिखित लक्षण पाये जाते है।

(1) तुलनात्मक रूप से कृषि में श्रमिकों की कम संख्या
(2) कम मूल्य पर अधिक मात्रा में शक्ति की उपलब्धता
(3) कुल राष्ट्रीय उत्पादन व प्रति व्यक्ति आय का उच्च स्तर
(4) प्रति व्यक्ति उपभोग की मात्रा अधिक
(5) जनसंख्या वृद्धि की निम्न दर
(6) परिवहन, संचार व व्यापार हेतु आधुनिक जटिल सुविधायें
(7) व्यय के लिए अत्यधिक मात्रा में धन की उपलब्धि
(8) व्यापार व साथ ही साथ उत्पादन पर आधारित नगरीकरण
(9) विभिन्न प्रकार के निर्माण उद्योगों की उपस्थिति
(10) अनेक तृतीयक व्यवसायों की बहुलता
(11) प्राकृतिक व मानसिक श्रम का विशेषीकरण एवं वस्तुओं व सेवाओं की अधिकता
(12) उच्च-स्तरीय विकसित तकनीकी एवं नवीन प्रयोगों के लिए उत्सुकता एवं तत्परता
(13) आन्तरिक प्रादेशिक विभिन्नतायें।

कम विकसित अर्थ व्यवस्थाओं के लक्षण

तकनीकी रूप से उन्नत अर्थव्यवस्थाओं से लगभग विपरीत परिस्थितियाँ यहाँ पाई जाती है। इस प्रकार की अर्थव्यवस्था में निम्न विशेषतायें होती है—

(1) आर्थिक द्वैतवाद अर्थात् इस प्रकार के देशों में प्राथमिक कृषि व द्वितीयक दोनों व्यवसायों का समान प्रचलन।

(2) सांस्कृतिक विभिन्नतायें।
(3) विकसित होने की कम आकांक्षा व प्रयत्न
(4) जनसंख्या वृद्धि दर उच्च व जनसंख्या घनत्व अधिक
(5) विश्व बाजार में पराश्रित
(6) आन्तरिक प्रादेशिक विभिन्नतायें

उपभोग

उपभोग आर्थिक क्रियाकलाप की आधारभूत प्रोत्साहक प्रक्रिया है। मनुष्य इच्छा के साथ जन्म लेता है। उम्र बढ़ने के साथ-साथ इसमें चाह सम्मिलित हो जाती है। विशेष रूप से अधिक जटिल अर्थव्यवस्थाओं मे इसमें सामाजिक एवं व्यक्तिगत आवश्यकता व इच्छा भी मिल जाती है। परन्तु उपभोग केवल इच्छा का ही परिणाम नही वरन् मांग से उत्पन्न होता है।

मांग = इच्छा + क्रय शक्ति या क्षमता (Demand = Desire + Purchasing Power) होती है।

यदि मनुष्य की आवश्यकताएं नही होती तो न किसी वस्तु की मांग होती और न उसकी पूर्ति का सवाल ही पैदा होता। फलस्वरूप किसी भी प्रकार के आर्थिक क्रिया-कलाप भूतल पर दिखाई न पड़ते। वास्तव में मांग की मात्रा के अनुसार ही उत्पादन की मात्रा भी निर्धारित की जाती है और उत्पादन की मात्रा के अनुसार ही साधन जुटाए जाते हैं। उत्पादन अधिक करने के उद्देश्य से विशिष्टीकरण की प्रवृत्ति को जन्म मिलता है और वांछित वस्तुओं की प्राप्ति के लिए विनिमय होने लगता है। विनिमय से ही वस्तु का उपभोग सम्भव होता है। असल में उपभोग की इच्छा एवं आवश्यकता ही वस्तुओं की मांग पैदा करती है।

मांग द्वारा अर्थव्यवस्था का निर्माण
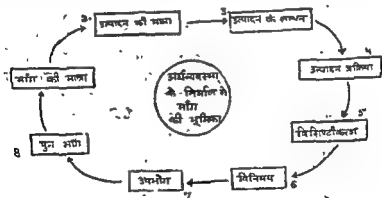
चित्र : 3.1

मांग निम्नलिखित तत्वों पर आधारित रहती है—

1. उपभोक्ता की आय
2. वस्तु या सेवा का बाजार-मूल्य
3. अन्य वस्तुओं का सापेक्षिक मूल्य (वैकल्पिक प्रयोग की सुविधा)
4. उपभोक्ता की रुचि और उसकी प्राथमिकताएं।

इसके अतिरिक्त उत्पादित वस्तु का प्रचार, सामाजिक, धार्मिक प्रचलन भी मांग को प्रभावित करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विश्व के भिन्न भागों में उपभोग की संरचना और प्रारूप में विभिन्नता पाई जाती है। वस्तुतः समस्त आर्थिक क्रिया-कलापों का अन्तिम लक्ष्य उपभोग ही है।

वाणिज्यिक अर्थव्यवस्थाओं में क्रय क्षमता की कुल राष्ट्रीय उत्पादन द्वारा गणना की जाती है। कुल राष्ट्रीय उत्पादन = समस्त उत्पादित वस्तुएँ + सेवाएँ।

निर्वाहक अर्थव्यवस्थाओं में जहाँ मुद्रा व मूल्य गणना इतने गतिशील नहीं रहते अर्थात् व्यापार नाममात्र को ही होता है। कुल राष्ट्रीय उत्पादन की गणना करना कठिन हो जाता है। यहाँ क्रय क्षमता की गणना आँकडे के स्थान पर अनुभवों द्वारा की जाती है।

यदि समस्त विश्व स्तर पर उपभोग का भौगोलिक वितरण व विशेष राष्ट्रों व अर्थव्यवस्थाओं में आन्तरिक संरचना तथा तकनीकी रूप से विकसित एवं कम विकसित राष्ट्रों में उसकी भूमिका व परीक्षण किया जाय तो हम उपभोग के विषय में कई नये तथ्य जान सकते हैं। परन्तु दुर्भाग्य से हमें विश्व स्तर पर यह सुविधा प्राप्त नहीं है। अधिक मूल्यांकन आय पर आधारित है जो उपभोग की साधारण को स्पष्ट करती है। आय के आँकडे भी विश्वस्त रूप से विश्व के आधे राष्ट्रों के ही प्राप्त है। शेष देशों के विषय में तो अनुमान का ही सहारा लेकर कुछ तथ्यों को ज्ञात किया जा सकता है।

उपभोग का विश्व वितरण असमान है। विश्व स्तर पर किसी देश के उपभोग सम्बन्धी आँकडे प्राप्त नहीं है। परन्तु देशों की कुल राष्ट्रीय आय व जनसख्या को देखकर कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते है—

1. कुल उपभोग क्षमता, कुल जनसंख्या व राष्ट्रीय आय पर निर्भर रहती है।

2. तकनीकी रूप से विकसित राष्ट्रों में उपभोग की सर्वाधिक क्षमताहोती है।

3. किसी देश की कुल राष्ट्रीय आय अधिक होते हुए भी उसकी उपभोग क्षमता जनसंख्या अधिक होने के कारण कम हो सकती है तथा कोई देश कुल राष्ट्रीय आय कम होने पर भी जनसंख्या कम होने से अधिक उपभोग क्षमता रख सकता है। जैसे—भारत की विश्व के कई देशों से कुल राष्ट्रीय आय अधिक है। फिर भी जनसख्या की बहुलता से उपभोग क्षमता यूरोप के उन देशों से भी कम है, जिनकी राष्ट्रीय आय उससे भी कम है।

इसी तरह तकनीकी दृष्टि से समृद्ध राष्ट्र होने से उनकी राष्ट्रीय आय अधिक ही होगी। अतः उपभोग क्षमता अधिक होगी। संयुक्त राज्य अमेरिका इसके उदाहरणस्वरूप देखा जा सकता है—

उपभोग सस्कृति, राष्ट्र व समाज से परिवर्तित होता है। केवल मात्रा ही नहीं वरन् सरचना में भी। यह इस रूप में भिन्न है, जैसे उत्पादक उपभोक्ता से भिन्न होता है; एवं आवश्यक व्यक्तिगत खर्च कीमती वस्तुओं पर किए गए खर्च से भिन्न होते हैं।

इस औद्योगिक युग में जो राष्ट्र अधिक मात्रा में उपभोग करता है, साधारणतया उत्पादन भी अधिक करता है तथा आधुनिक उत्पादन महँगे उत्पादक

उपकरणों की माँग करता है। तकनीकी रूप से समृद्ध राष्ट्रों में जहाँ ऐसी वस्तुएँ सकेन्द्रित होती है उपभोग अत्यधिक मात्रा में उत्पादक वस्तुओं को उत्पन्न करता है। कम विकसित देशो मे उनकी आय का अधिकांश भाग उपभोग की वस्तुओं पर ही व्यय होता है।

किसी अर्थव्यवस्था में उत्पादक वस्तुओं पर व्यय साधारणतया ऊँचे होते है। यदि उसे पहले से इकट्ठे धन का या उपकरणों का लाभ मिल रहा हो। यदि कोई कम विकसित अर्थव्यवस्था आर्थिक व तकनीकी दोनो रूप से अधिक विकसित होना चाहती है तो उसे अपनी राष्ट्रीय आय का बहुत बडा भाग इसके लिए खर्च करना पडेगा। यदि उसे अन्य विकसित देशों, विश्व बैंक से विदेशी मुद्रा मिल जाये तो वह इस दिशा मे आसानी से सफल हो जायगी। परन्तु वैसे यह कठिन ही होता है। यही कारण है कि कम विकसित देशो के लिए यह सक्रमण काल बहुत कठिन साबित होता है।

विश्व के दो तिहाई मनुष्य तकनीकी व आर्थिक रूप मे अविकसित दशा मे रह रहे है। कुछ व्यक्ति उन दशाओं मे भी रह रहे है जब प्रत्येक दिन के भोजन के लिए उन्हें यह सोचना पड़ता है कि कैसे प्राप्त किया जाए। इस आधार पर जर्मन विद्वान एन्जिल ने निष्कर्ष निकालकर एक नियम का प्रतिपादन किया। उनके द्वारा प्रतिपादित नियम को **'उपभोक्ता नियम'** कहा जाता है जो इस प्रकार है 'निर्धनतम परिवार व समाज अपनी आय का अधिकतर प्रतिशत खाने मे खर्च करते है। इसके विपरीत सम्पन्न परिवारों मे उनकी आय का बहुत कम प्रतिशत इस पर खर्च होता है।' यह नियम दोनो प्रकार की अर्थव्यवस्थाओ तकनीकी रूप से विकसित व कम विकसित मे देखा जा सकता है।
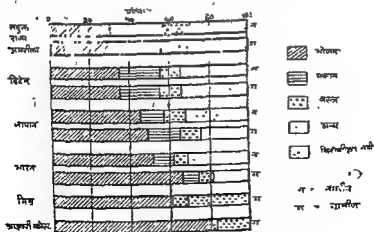
प्रमुख देशो मे प्रति व्यक्ति आय के विभिन्न मदो पर किए जाने वाले खर्च का प्रतिशत

चित्र : 3.2

विश्व की आधी जनसंख्या अपनी आय का अधिक प्रतिशत भोजन पर व्यय करने के कारण 2250 केलोरी भी प्राप्त नही कर पाती क्योंकि उन्हें केवल पेट भरना ही एक उद्देश्य जान पड़ता है उनके पास पौष्टिक भोजन प्राप्त करने के कोई साधन नही होते हैं। 1/6 जनसंख्या 2250–2750 केलोरी प्रतिदिन प्राप्त करते हैं एवं केवल 1/3 जनसंख्या 2750 केलोरी से अधिक प्राप्त करती है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि ये 1/3 जनसंख्या अधिकांशतः तकनीकी रूप से समृद्ध राष्ट्रों की है।
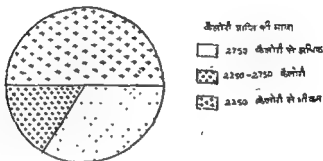
विश्व जनसंख्या का वर्गीकरण कैलोरी प्राप्ति की मात्रा के आधार पर

चित्र : 3.3

यदि उपभोग की संरचना को विश्व स्तर पर मानचित्र मे अंकित किया जाय तो कई प्रारूपो का निर्माण होगा। तकनीकी रूप से विकसित देशों में उपभोग ही अधिक मात्रा में नही होता वरन् उत्पादित वस्तुओं में विलासिता वाली वस्तुओं की अधिक मात्रा होती है। कम विकसित देशों में उपभोग, कुल जनसंख्या, कम उत्पादन व आवश्यक वस्तुओं, मुख्य रूप से भोजन, के उपभोग द्वारा निर्धारित होता है। यदि कोई कम विकसित देश अपनी दशा को उच्च स्तर मे परिवर्तित करने का प्रयत्न करे तब इस सामान्यीकरण के अपवाद मिल सकते है। उस देश मे उत्पादन की मांगें अधिक हो सकती है और वह देश जनसंख्या वृद्धि पर नियन्त्रण कर सकता है।

□□□

4. उत्पादन

उत्पादन–संरचना एवं प्रारूप

किसी वस्तु पर मानवीय श्रम लगाने पर जो प्राप्त होता है, उसे उत्पादन कहते है। आर्थिक भूगोल में मानवीय क्रिया-कलापों का अध्ययन किया जाता है। अतः मानवीय श्रम लगने से उत्पादन का अध्ययन व विश्लेषण स्वतः ही उसके अन्तर्गत हो जाता है।

वस्तु का उत्पादन, विशिष्ट उत्पादन विधि तथा उस उत्पादन के लिए आवश्यक विभिन्न वस्तुओं के सयोग से होता है। किसी वस्तु की किसी स्थान पर मांग होने पर वहां पर उससे सम्बन्धित कच्चे माल को विशेष उत्पादक विधि द्वारा उत्पादन के रूप मे परिवर्तित किया जाता है। विशेष आवश्यक वस्तुओं तथा वह विधि जिसके द्वारा उत्पादन होता है, को सम्मिलित रूप से, साधारण शब्दों में उत्पादन-क्रिया कहते है। इसे निम्नलिखित सूत्र* द्वारा भली-भाँति समझा जा सकता है—

उ = सं (भू, श्र., पू, त)

जहाँ

उ = उत्पादन

भू = भूमि कारक, जिसमे सभी प्रकार के प्राकृतिक संसाधन सम्मिलित है।

श्र.= श्रमिक जो आवश्यक कच्चे माल को उत्पादन में बदलते है।

पू =उत्पादन विधि में काम आने वाले साधन जैसे भवन, मशीनें आदि।

त = तकनीक

सं = संयोजक शक्ति

उपरोक्त सूत्र से स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तु के उत्पादन मूल्य को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक निम्नलिखित है—

$O = f(K, L, Q, T)$

Where

O—the output of the system.

K—the land factor of production including physical resources of all kinds.

L—Labour used in transforming inputs into outputs.

Q—Capital applied in the production process.

T—the technoogical component.

(1) श्रम—समस्त कुशल एवं अकुशल श्रम शक्ति।

(2) पूंजी—मानव द्वारा निर्मित वे सभी साधन जो कि उत्पादन के लिए काम आते है जो स्वयं एक उत्पादन नहीं वरन् किसी वस्तु का उत्पादन करने के साधन मात्र है।

(3) तकनीकी ज्ञान—जिसके उपयोग से उत्पादनशीलता बढ़ जाती है।

यद्यपि उत्पादन की जटिल विधि निश्चित रूप से लम्बी-चौड़ी संरचना उत्पन्न करती है तथा इसके पर्यवेक्षण के विभिन्न स्तर बन सकते है। परन्तु हम केवल विश्व संदर्भ में प्राथमिक, द्वितीयक व तृतीयक व्यवसायों के क्रियाकलापों का संरचनात्मक वर्गीकरण करेंगे। विश्व-स्तर पर सभी देशों के इस प्रकार के आंकडे उपलब्ध नहीं कि जिससे [सावधानीपूर्वक किए गए निरीक्षण द्वारा विभिन्न क्रियाकलापों में लगी हुई विश्व की श्रम-शक्ति का अनुमान लगाया जा सके। निम्नलिखित सारिणी द्वारा कुछ अनुमान लगाये जा सकते है—

विश्व की श्रम-शक्ति का विभिन्न व्यवसायों में वितरण

सारिणी 4.1

विभिन्न क्रियाकलाप	प्रतिशत
कृषि व पशुपालन	51·9
निर्माण उद्योग व हाथ करघा	19 4
खनन एवं आखेट	1·0
मछली पकड़ना व आखेट	0·5
वन उत्पादन व उद्योग	0 5
अन्य व्यवसाय (व्यापार, परिवहन आदि)	26·7
कुल	100

उपर्युक्त सारिणी से ज्ञात होता है कि विश्व की आधी से अधिक श्रम-शक्ति कृषि व पशुपालन में लगी है। इसमें केवल 1% भाग पशुपालन का है। अन्य प्राथमिक व्यवसाय पशुपालन के समान 1% या इससे भी कम भाग रखते है। विश्व की 25% श्रम-शक्ति तृतीयक व्यवसायों से सम्बन्धित है व लगभग 20% श्रम-शक्ति निर्माण उद्योग में संलग्न है।

तकनीकी रूप से विकसित राष्ट्रों, यथाकनाडा, संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन व फ्रान्स में कृषि में संलग्न श्रम-शक्ति का प्रतिशत पिछली शताब्दी से निरन्तर गिर रहा है। कनाडा में केवल 7%, संयुक्त राज्य अमेरिका में 4·2%, ग्रेट ब्रिटेन में 3% व फ्रांस में 8·6% श्रम-शक्ति कृषि कार्य में लगी हुई है। निर्माण उद्योग में इन चारों देशों में अधिक व्यक्ति लगे हुए हैं। इसमें पिछली शताब्दी से

निरन्तर वृद्धि हो रही है। परन्तु तुलनात्मक रूप से धीमें-धीमें इनकी गति भी मन्द हो रही है। तृतीयक व्यवसाय व सेवाएँ इन देशों व अन्य विकसित देशों के भविष्य के रोजगार की कुंजी है।

फिर भी, कृषि आज के इस विकसित युग में भी आधार-स्तम्भ है। भारत में आज भी श्रम-शक्ति का बहुत बडा भाग, लगभग 70% इसी में संलग्न है। द्वितीयक व तृतीयक व्यवसायों में यह संख्या बहुत कम है। वे देश, जो विकसित होने के समीप हैं जैसे मैक्सिको व यूगोस्लाविया, वहां पर भी कृषि का स्थान ऊँचा है, पर उत्पादक वर्गों में इसका भाग निरन्तर कम होता जा रहा है जबकि द्वितीयक व तृतीयक व्यवसायों में बढ़ता जा रहा है।

आगे आने वाले पृष्ठों मे हम प्राथमिक, द्वितीयक व तृतीयक व्यवसायो के अन्तर्गत आने वाले प्रमुख आर्थिक क्रियाकलापों यथा--कृषि, विनिर्माण, उद्योग, व्यापार व परिवहन का सविस्तार सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

कृषि

आर्थिक भूगोल के सैद्धान्तिक उपागम मे स्थानिक संरचना की संकल्पना मूलभूत संकल्पना है। स्थानिक सरचना से तात्पर्य किसी आर्थिक क्रियाकलाप द्वारा उत्पन्न प्रारूप व स्थान मे परस्पर सम्बन्ध से है या उस योजना के दृश्य से है। आर्थिक भूगोल के सैद्धान्तिक अध्ययन में इसकी व्याख्या की जाती है कि इस प्रकार की संरचना किन कारणों का परिणाम है।

कृषि का स्थानीयकरण—

प्राथमिक व्यवसायों मे कृषि का प्रमुख स्थान है और कृषि उत्पादन विस्तृत क्षेत्र मे होता है। अतः सामान्यतया इसमे स्थानीयकरण सम्बन्धी कोई समस्या दिखाई नही पड़ती। परन्तु जिस प्रकार किसी उद्योग के किसी बिन्दु विशेष पर स्थानीयकरण की समस्या उत्पन्न होती है, उसी प्रकार इसमें भी यह समस्या उत्पन्न होती है कि कृषि के लिए किसी क्षेत्र विशेष में उत्पन्न होने वाली विभिन्न सम्भावित फसलों में से कौनसी फसल उपजाई जाय। इस प्रकार कृषि में विभिन्न मे से उपयुक्त फसल का चुनाव मुख्य समस्या हो सकती है। कृषि के स्थानीयकरण के लिए सामूहिक विश्लेषणात्मक पद्धति का अनुसरण किया गया है।

कृषि के स्थानीयकरण के सिद्धान्त का भी भौगोलिक आधार दो क्षेत्रों के तुलनात्मक लाभ का सिद्धान्त ही है। इसके अनुसार यदि दो क्षेत्रों मे दो फसलों का उत्पादन सम्भव हो तथा प्रत्येक क्षेत्र मे किसी एक फसल का उत्पादन दूसरे की अपेक्षा अधिक हो सकता हो तो प्रत्येक क्षेत्र को उस फसल के उत्पादन मे विशेषीकरण करना चाहिए जिसका अधिक उत्पादन होता हो।

कृषि के स्थानीयकरण के फाँन थ्यूनेन (Von Thunen) के सिद्धान्त का विवेचन करने से पहले यह आवश्यक है कि भौगोलिक लगान को अच्छी तरह समझ लिया जाय।

लगान—लगान से तात्पर्य किसी समय के लिए किसी अन्य वस्तु के उपयोग के लिए चुकाई गई राशि से है।[1] अतः इसे अनुबन्धित लगान भी कहते हैं।

इसी दर के विषय में डेविड रिकार्डो ने भूमि की असमानता की ओर ध्यान दिलाया कि सभी भूमि समान नहीं। उनकी उत्पादकता में पर्याप्त अन्तर होता है। अतः प्रत्येक भूमि से मिलने वाले लाभ में अन्तर होता है।

चित्र संख्या 4 : 1

चित्र संख्या 4 : 2
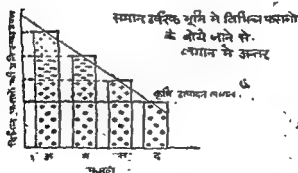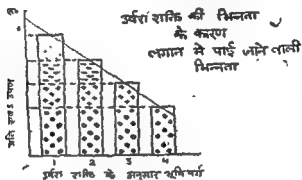
उपरोक्त आरेखों से स्पष्ट है कि भूमि किस प्रकार लगान को प्रभावित करती है। प्रथम चित्र में एक ही फसल को विभिन्न उत्पादकता श्रेणी वाली भूमि

1. Rent is a periodic payment for the use of a durable item belonging to someone else.

में बोये जाने पर प्रति एकड़ उपज में अन्तर आया। द्वितीय आरेख में अलग-अलग फसल को एक उत्पादकता श्रेणी वाली भूमि मे बोया तो भी सगान में अन्तर आया क्योंकि किसी फसल विशेष को विशेष प्रकार की उत्पादकता वाली भूमि ही चाहिए। इस प्रकार भूमि के वैकल्पिक प्रयोग द्वारा अतिरिक्त लाभ प्राप्त किया जा सकता है। पूरे विश्व में कृषि का स्थानीयकरण एवं विशिष्टीकरण में यही तत्व सक्रिय रहता है। प्रगतिशील समाज मे वैकल्पिक प्रयोग की यह प्रक्रिया तेजी से चलती है और परम्परागत समाज में इसकी गति धीमी होती है।

फॉन थ्यूनेन का भूमि उपयोग अवस्थिति सिद्धान्त

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान जान हीनरिच फॉन थ्यूनेन ने बाजार या शहर केन्द्र के चतुर्दिक भूमि उपयोग आवर्त तथा दूरी सम्बन्धों का अध्ययन किया। इनका भूमि उपयोग अविस्थिति सम्बन्धी अभूतपूर्व अध्ययन 'Der isolierte staat in Berichung anf land wirtschaft.' नामक शीर्षक से 1826 में प्रकाशित हुआ। थ्यूनेन ने 27 वर्ष की अवस्था में (1810 में) जर्मनी के प्रसिद्ध बाल्टिक तट पर रोस्टोफ कस्बे के निकट 'टेलो' (Tellow) कृषि फार्म पर कार्य किया। मृत्यु तिथि (1850) तक के 40 वर्षीय कृषि अनुभव की अवधि में थ्यूनेन ने लागत आय लेखा तैयार किया जिस पर प्रकाशित सिद्धान्त आधारित था। इनके सिद्धान्त से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती है—

(1) फार्म की अवस्थिति

(2) कृषि भूमि उपयोग के प्रारूप

(3) निर्माण उद्योग स्थान की अवस्थिति

(4) तृतीयक आर्थिक क्रियाकलाप का स्थान व अवस्थापन

थ्यूनेन ने अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिए निम्नलिखित मान्यताओं का सहारा लिया—

(अ) फॉन थ्यूनेन ने सर्वप्रथम एक ऐसे एकाकी प्रदेश (Isolated state) की कल्पना की जिसमे एक ही नगर स्थित हो तथा उसके चारों ओर विस्तृत कृषि क्षेत्र हो। यही नगर इस विलग प्रदेश से उपजने वाली फसलों का एक मात्र बाजार केन्द्र हो तथा कहीं अन्यत्र से आयात न करता हो, उसी प्रकार उसके विस्तृत कृषि से उपज का आधिक्य किसी अन्य बाजार में न भेजा जाता हो।

(ब) इस विलग प्रदेश में सर्वत्र एक-सा प्राकृतिक वातावरण हो अर्थात् जलवायु, धरातल, मिट्टी की उत्पादन क्षमता सर्वत्र समान तथा फसलों के उत्पादन के अनुकूल हो।

(स) इस प्रदेश में केन्द्रीय नगर के अतिरिक्त शेष ग्रामीण आबादी हो। इसमें बसने वाले किसान अधिकतम लाभ प्राप्त करने के इच्छुक हो तथा नगर में माँग के अनुसार फसलो की किस्मो में फेर-बदल करने में सक्षम हों।

(द) इस विलग कृषि प्रदेश में एक ही प्रकार का परिवहन साधन अर्थात् घोड़ा-गाड़ी उपलब्ध हो (जो उस काल मे जर्मनी मे उपलब्ध थी)।

(ध) परिवहन व्यय दूरी तथा भार के अनुपात में बढता हो।

फॉन थ्यूनेन की उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर इस प्रकार के विलग प्रदेश मे केन्द्रीय बाजार के चतुर्दिक नगर से बढ़ती दूरी के अनुसार विभिन्न फसलो का उत्पादन क्षेत्र सकेन्द्रीय वृत्त खण्डो मे होगा। शहरी भूमि मूल्य के समान ग्रामीण भूमि मूल्य के ह्रास होगा। यद्यपि ह्रास का ढाल अपेक्षाकृत मन्द होगा। प्रत्येक कृषि भूमि उपयोग आवृत्त लागत आय अनुपात के अनुरूप होगा। विभिन्न उद्योगो की अवस्थिति शहर से एक विशेष दूरी पर होगी। भारी पदार्थ की उत्पादन स्थिति केन्द्र के निकट होगी क्योंकि उन्हें आसानी से नही ढोया जा सकता है। इसके विपरीत हल्के पदार्थों की स्थिति केन्द्र से दूर होगी।
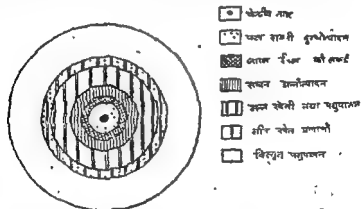
एकाकी प्रदेश मे फॉन थ्यूनेन द्वारा प्रस्तावित भूमि उपयोग आवर्त

चित्र संख्या 4 : 3

फॉन थ्यूनेन द्वारा एकाकी प्रदेश मे प्रस्तावित भूमि उपयोग आवर्त.

वॉन थ्यूनेन के अनुसार केन्द्रीय नगर में उद्योग स्थापित होगा। इस क्षेत्र का भूमि उपयोग औद्योगिक तथा व्यावसायिक होगा। नगर के निकट स्थित वृत्त खण्ड मे साग-सब्जी तथा दुग्धोत्पादन होगा। इस तरह विचारानुसार भूमि उपयोग आवृत्त होंगे। इनका विस्तार केन्द्रीय नगर की आवश्यकता के अनुरूप होगा।

परिवर्तित दशाओं के अन्तर्गत वृत्त खण्ड निम्नलिखित प्रकार से होंगे—
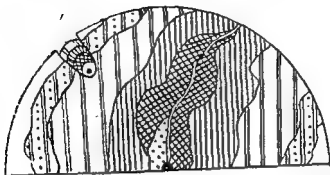
नदी के कारण थ्यूनेन द्वारा प्रस्तावित भूमि उपयोग आवर्त

चित्र संख्या 4 : 4

आर्थिक लगान (Economic Rent)

वॉन थ्यूनेन के अनुसार आर्थिक लगान वह लाभ है जो किसी भूमि की प्रति इकाई द्वारा, अन्य घटिया किस्म की भूमि की प्रति इकाई से अच्छी गुणों वाली (उपजाऊ) होने के कारण, मिलता है।[1]

वास्तविक धरातल पर लगान को प्रभावित करने वाले कई कारक है परन्तु सैद्धान्तिक विवेचन में समदैशिक धरातल मान लेने से केवल एक कारक—'अवस्थिति'—इसे प्रभावित करती है। अतः आर्थिक लगान को 'अवस्थिति लगान' (Location rent) भी कहा जा सकता है।

चूँकि हमारे समदैशिक धरातल पर, जो समान रूप से उत्पादक है और कृषकों की योग्यता समान है, हमने माना है कि कृषकों को बाजार मूल्य समान मिल रहा है। अतः आय रेखा समानान्तर रूप से सीधी होगी। इसे 'निर्वाहक या मूलभूत आय रेखा' (Subsistence or necessary income line) कहते है। परन्तु दूरी तत्व सक्रिय है। जैसे-जैसे दूरी बढ़ती जाती है वैसे-वैसे कृषक का लाभ कम होता जाता है।

---

1. 'Economic rent is the surplus income that can be obtained from one unit of land over that which can be obtained from an inferior unit of land.'
—Von Thunen.
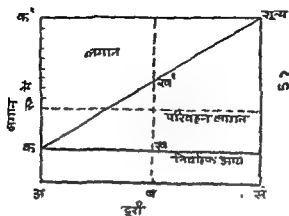
दूरी के साथ परिवहन लागत के बढ़ने से आर्थिक लगान में ह्रास

चित्र संख्या 4 : 5

उपर्युक्त प्रारेख से म स रेखा पर आवश्यक आय से ऊपर परिवहन दर बताई गई है। स बिन्दु से अधिक दूरी पर जाने पर आवश्यक आय भी प्राप्त नहीं होगी। म पर लाभ क क। है तथा ब दूरी पर लाभ क ख है तथा स बिन्दु पर लाभ शून्य है। इसे निम्नलिखित सूत्र* से स्पष्ट किया जा सकता है—

ल० = उ० – (ला० + प०)

जहाँ—

ल० = लगान (आर्थिक लगान या लाभ)

उ० = कुल उत्पादन

ला० = उत्पादन लागत

प० = परिवहन लागत

कृषकों को मिलने वाले लाभ पर दूरियों का कैसा प्रभाव पड़ता है तथा जिस भूमि-उपयोग पर बाजार का अधिक प्रभाव हो अर्थात् जहाँ आसानी से पहुँचा

R = P. Q – (Pc + Tc)

Where :

R = Rent.

PQ = Price times quantity of output or farmer's revenue.

PC = Production cost of output.

TC = Transportation cost.

जा सके वहाँ लगान की क्या स्थिति होती है यह निम्नलिखित आरेखों द्वारा और अधिक स्पष्ट हो जायगा—
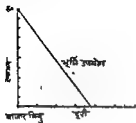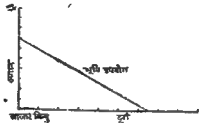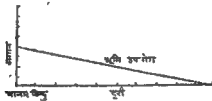
लगान पर दूरी का प्रभाव

चित्र संख्या 4 : 6

उपर्युक्त आरेखों से स्पष्ट है कि दूरी बढ़ने से लगान कम हो जाता है। प्रथम आरेख में आसान पहुँच वाली भूमि की उपयोग दर अधिक होगी अर्थात् दूरी कम होने से मिलने वाला लाभ अधिक होगा। जहाँ पर मध्यम स्तर की पहुँच हो वहाँ लगान भी मध्यम होगा तथा जहाँ पहुँच कम हो वहाँ लगान भी बहुत कम होगा। यहाँ पर 'पहुँच' से तात्पर्य बाजार से उस स्थान विशेष की स्थिति से है क्योंकि बाजार से कम दूरी होने के कारण वहाँ अन्तंप्रतिक्रिया अधिक होने से आवागमन सहज प्राप्य हो जाता है, जबकि दूर-दराज के स्थानों पर यह स्थिति क्रमशः घटती जाती है। अतः ज्यों-ज्यों बाजार से दूरी बढ़ती जाती है उस स्थान का मूल्य कम होता जाता है।

किसी वस्तु का बाजार मूल्य वितरण व माँग के सम्बन्ध द्वारा निर्धारित होता है। यदि सभी उत्पादनों का बाजार मे एक ही मूल्य निर्धारित हो तो कृषकों के लिए लाभ भी बराबर होगा, परन्तु उत्पादन लागत में परिवहन व्यय भी सम्मिलित होता है। थ्यूनेन के अनुसार इस विलग प्रदेश मे नगर से बढ़ती दूरी के अनुसार

विभिन्न खण्डों में विभिन्न फसलों का उत्पादन स्पष्टतः परिवहन व्यय के अनुसार निर्धारित होगा। इसको निम्नलिखित सूत्र से स्पष्टतः समझा जा सकता है।

ल = उ (बा – ला) उ प दू

जहाँ—

ल = भूमि का प्रति इकाई लगान
उ = भूमि का प्रति इकाई उत्पादन
बा = बाजार मूल्य
ला = उत्पादन लागत
प = परिवहन व्यय
दू = बाजार से दूरी
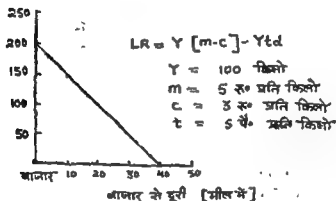
चित्र संख्या 4 : 7

LR = Y (M—C)—Y t d

Where :

LR = Location rent per unit of land.
Y = Yied per unit of land
M = Market price,
C = Production cost,
T = Transportation cost
D = Distance from the market,

सारिणी 4.2

बाजार से दूरी के कारण किसी फसल के स्थानीय लगान में परिवर्तन

दूरी (मील)	0	10	20	30	40
कुल परिवहन लागत (अनुपात)	0	50	100	150	200
प्रति एकड़ स्थानीय लगान (अनुपात)	200	150	100	50	0

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि फसल का उत्पादन 40 मील की दूरी तक ही लाभप्रद है। इससे अधिक दूरी पर हानि होगी।

अतः किसी फसल विशेष का उत्पादन नगर से उतनी ही दूरी पर सम्भव होगा जहाँ उसके उत्पादन से लागत व बाजार तक परिवहन व्यय का योग उसके मूल्य के बराबर हो। इसके आधार पर वान थ्यूनेन ने निम्नलिखित दो निष्कर्ष निकाले हैं—

(अ) प्रत्येक प्रकार की कृषि पेटी की बाहरी दूरी परिवहन (दूरी) लागत के कारण घटते हुए लाभ के द्वारा निर्धारित की जायेगी।

(ब) प्रत्येक नगर की कृषि पेटी की आन्तरिक दूरी कृषि में अधिकतम लाभ देने वाले विकल्पों द्वारा निर्धारित की जायेगी अर्थात् जिस प्रकार की फसल से अधिक आर्थिक लाभ प्राप्त होगी उसी फसल का उत्पादन उस क्षेत्र में किया जायेगा। इसके आधार पर फसलों का चुनाव किया जायेगा।

इस प्रकार वान थ्यूनेन ने अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए विभिन्न फसलों का उत्पादन निर्धारित करने के लिए तुलनात्मक लाभ का उपयोग किया जो अधांकित तालिका से स्पष्ट है—
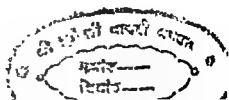
सारिणी 4 3

नगर से इकाई दूरी	अनुपातिक लाभ							
	लकड़ी				अन्न			
	बाजार में उत्पादन कीमत	उत्पादन लागत	परिवहन व्यय	लाभ	बाजार में उत्पादन कीमत	उत्पादन लागत	परिवहन व्यय	लाभ
·5	200	140	10	50	80	50	3	27
1	200	140	20	40	80	50	6	24
1·5	200	140	30	30	80	50	9	21
2	200	140	40	20	80	50	12	18
2·5	200	140	50	10	80	50	15	15
3	200	140	60	0	80	50	18	12
3·5					80	50	21	9
4					80	50	24	6
4·5					80	50	27	3
5					80	50	30	0

नगर से कितनी दूर तथा किस वृत्त खण्ड में किसी फसल विशेष का उत्पादन होगा। यह परिवहन व्यय पर ही नहीं वरन् विभिन्न फसलों से प्राप्त सापेक्षिक लाभ पर निर्भर करता है। केन्द्रीय नगर के निकटतम वृत्त खण्डों में भूमि उपयोग के लिए कई फसलों में प्रतियोगिता होती है परन्तु उसी फसल को क्रमशः वरीयता मिलती है जिससे अधिक आर्थिक लगान प्राप्त हो। तालिका में लकड़ी का उत्पादन बाजार से एक इकाई दूरी पर करने से 40 का लाभ होता है। जबकि 3 इकाई दूरी पर करने से शून्य लाभ मिलता है। क्योंकि लकड़ी की कीमत बाजार में निश्चित् है। निरन्तर दूरी बढ़ने से उसमें परिवहन व्यय और सम्मिलित हो जाता है। अतः ऐसे सीमान्त क्षेत्र की भूमि को जहां उत्पादन से कोई लाभ प्राप्त नहीं होता, उसे 'लाभ रहित भूमि' कहते हैं। जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि वैसे तो नगर

से दूरी बढ़ने पर किसी वस्तु की उत्पादन लागत में परिवहन व्यय और सम्मिलित करने से सापेक्षिक लाभ में कमी हो जाती है परन्तु विभिन्न प्रकार के भूमि उपयोगों द्वारा भी कृषक के सापेक्षिक लाभ पर प्रभाव पड़ता है।

आर्थिक लगान किसी फसल के प्रति एकड़ उत्पादन की दर तथा उसको बाजार भेजने में परिवहन लागत से सम्बन्धित है। अतः यह विभिन्न फसलों के लिए अलग-अलग होगा। चित्र में अ, ब, स तथा द फसलों के लिए लगान तथा बाजार से दूरी का सम्बन्ध दर्शाया गया है जबकि अन्य सभी बातें समान मान ली गई है—
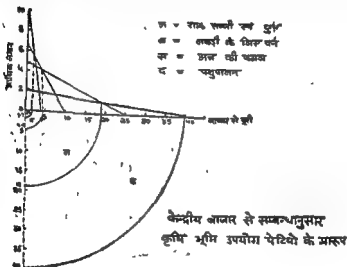
चित्र : 4.8

कोई भी फसल बाजार से जितनी दूर उत्पादित होगी, उस पर परिवहन व्यय उतना ही अधिक लगेगा और फलतः उसका आर्थिक लगान उसी अनुपात में कम होता जायेगा। इसलिए आर्थिक लगान तथा दूरी का सम्बन्ध दर्शाने वाली रेखाएँ सीधी है तथा दाहिनी तरफ गिरती हुई है। परन्तु विभिन्न फसलों के लिए आर्थिक लगान दर्शाने वाली सरल रेखाओं की ढाल प्रवणता अलग-अलग है क्योंकि सबकी परिवहन की दशाएँ तथा दर अलग-अलग हैं। भारी तथा शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं का अधिक दूर परिवहन करना कठिन है। इसके विपरीत जिन वस्तुओं की प्रति एकड़ उपज कम है अथवा परिवहन व्यय की दर कम है, वे अधिक दूर तक उपजायी जा सकती है। चित्र में 'अ' फसल का 4·5 मील तक, 'ब' का 10 मील तक, 'स' का 25 मील तक तथा 'द' का 40 मील तक उत्पादन हो सकता है। क्रमशः उन दूरियों तक प्रत्येक फसल के उत्पादन से आर्थिक लगान कुछ न कुछ प्राप्त होता है। परन्तु 'अ' फसल का उत्पादन 1·7 मील की दूरी तक ही हो सकता

है क्योंकि उसके आगे इससे प्राप्त आर्थिक लगान 'ब' की अपेक्षा कम हो जाता है। उसी प्रकार 'ब' का उत्पादन 4·9 मील है एवं 'स' का उत्पादन 18 मील तक ही हो सकता है। यदि बाजार को केन्द्र मानकर क्रमशः इन्ही दूरियों की त्रिज्या से वृत्त खींचे जाएँ तो बाजार के चारों ओर इन विभिन्न फसलो के उत्पादन वाले सकेन्द्रीय वृत्त खण्ड बन जाते है। 'अ' फसल स्पष्टतः शाक-सब्जी तथा दुग्ध जैसे शीघ्र नष्ट होने वाले तथा परिवहन व्यय अधिक लगने वाले पदार्थों का द्योतक है। जबकि 'ब' फसल लकडी जैसे भारी तथा अन्य फसलो की अपेक्षा अधिक परन्तु शाक-सब्जी आदि शीघ्र नष्ट होने वाले फसल की अपेक्षा कम दर से परिवहन व्यय लगने वाली फसल का प्रतीक है। उसी क्रम से 'स' अन्न की फसल तथा 'द' पशुपालन का प्रतिनिधित्व करते हैं।

वॉन थ्यूनेन के सिद्धान्त में संशोधन

वॉन थ्यूनेन के सिद्धान्त का पुनर्निरीक्षण गोरेवाल (1959) चिशोल्म (1962) तथा हॉल (1966) डूवर, डन, लॉश, इजार्ड, ओलविसो, गेरीसन, होखप द्वारा किया गया। इवर्सन तथा फिरगन गेरॉल्ड (1969) ने बस्तियों के प्रतिरूप की परिकल्पना का विवरण देते हुए थ्यूनेन के सिद्धान्त को ग्रामीण भूमि के उपयोग के लिए भी उपयुक्त बताया। उनके अनुसार ग्रामीण बस्ती की भूमि उपयोग पेटियाँ इस प्रकार है—

चित्र : 4.9

स्वीडन के भूगोलवेत्ता प्रो॰ जोनासन ने वॉन थ्यूनेन के नमूने को यूरोप के कृषि वितरण से सम्बन्ध स्थापित करके उसे विकसित किया है। निम्न चित्र 1925 में यूरोप की कृषि पर वॉन थ्यूनेन के नमूने का रूपान्तर है :
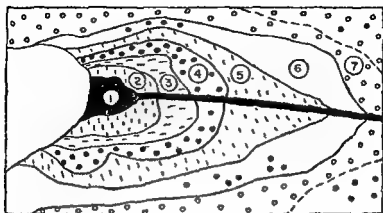
चित्र : 4.10

(1) उद्यान कृषि—(अ) नगर तथा उसके उपनगरीय भाग सब्जघर तथा पुष्पोत्पादन ।

(ब) सागभाजी उपजे फल, आलू व तम्बाकू ।

. (2) गहन कृषि के साथ दुग्ध व मांस व्यवसाय—(स) डेरी उपजें, गोमांस वाले पशु, मांस के लिए भेड़ें, बछड़े का मांस, चारा फसलें, जई, रेशम उत्पादन के लिए फ्लेक्स ।

(द) साधारण कृषि—अनाज, सूखी घास, पशुधन ।

(3) विस्तृत कृषि—(क) रोटी वाले खाद्यान्न तथा तेल प्राप्ति हेतु फ्लेक्स ।

(4) विस्तृत चरागाह—(ख) पशु (मांस व परिसर) घोड़े (परिसर) व भेड़ें (परिसर) नमक धुआं लगाया हुआ वातानुकूलित तथा डिब्बों में भरा हुआ मांस, हड्डियां, चर्बी तथा चमड़े ।

(5) वन्य कृषि—(ग) बाह्य परिधीय क्षेत्र वन ।

वॉन थ्यूनेन के सिद्धान्त की लॉश द्वारा आलोचना करते हुए बताया गया कि भूमि उपयोग पेटियां किन्हीं विशेष परिस्थितियों में ही बनती है। उन्होंने बताया कि 27 सम्भावित परिस्थितियों में से केवल 10 में ही पेटियों के बनने की सम्भावना रहती है। इन्हीं विचारों को आगे बढ़ाते हुए 'उन' महोदय ने (1954) में बताया कि मौलिक रूप से विभिन्न उत्पादनों की लगान रेखाएँ एक-दूसरे को काटनी चाहिए।

वृत्ताकार स्वरूप के लिए आवश्यक दशाएं

चित्र : 4 11

वृत्ताकार स्वरूप के लिए एक पदार्थ के अधिशेष के ढाल को दूसरे पदार्थ की अपेक्षा तीव्र होना आवश्यक है। यदि दो उत्पादित पदार्थों का अधिशेष ढाल मन्द या समानान्तर होगा तो वृत्ताकार रचना नही होगी जैसा कि चित्र ब और स में बताया गया है। इनके मतानुसार शहर से दूर कृषि क्षमता मे ह्रास होता है। इन्होने बताया कि यह केवल एक पदार्थ उत्पादन के लिए सम्भव होता है। यदि दो या अनेक पदार्थों का उत्पादन साथ-साथ किया जाता है तथा कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं जिनका उत्पादन शहर से दूर भी सर्वाधिक क्षमता के साथ हो सकता है। डन, चिशोल्म तथा हॉल ने बताया कि मक्खन तथा तम्बाकू जैसे हल्के पदार्थों का उत्पादन बाजार से किसी भी दूरी पर किया जा सकता है तथा इससे बने पदार्थों को यातायात साधनों द्वारा कम खर्च में व्यापारिक केन्द्रों तक पहुँचाया जा सकता है। ऐसी दशा में वृत्ताकार आकृति नही बनेगी।

चित्र 'अ' में किसी एक वस्तु का उत्पादन का ढाल तीव्रतम होना चाहिए व दूसरे उत्पादन का ढाल धीमा होना चाहिए जिससे उनके लगान वक्र रेखाएँ एक दूसरे को काट सकें चित्र 'ब' मे ये रेखाएँ एक-दूसरे को नही काट रहीं। अतः वृत्ताकार पेटी का निर्माण नहीं होगा। चित्र 'स' मे भी इसका निर्माण नहीं होगा क्योकि पहली फसल का लगान वक्र दूसरी फसल के लगान वक्र से दूरी प्रदर्शित करने वाली क्षैतिज रेखा के ऋणात्मक भाग मे मिलती है।

निष्कर्ष रूप मे वान थ्यूनेन के सिद्धान्त को अलोन्सो ने 1960 में इस प्रकार स्पष्ट किया—

(1) कृषकों के प्रतिस्पर्धात्मक मूल्य निर्धारण द्वारा ही भूमि उपयोग भूमि को निश्चित् करते है।

(2) चुकाने की योग्यतानुसार ही भूमि मूल्य द्वारा भूमि अलग-अलग उपयोग में बँट जाती है। यह योग्यता स्थानीय लगान के स्तर पर निर्भर करती है और यह स्थानीय लगान या लाभ बाजार से उसकी स्थिति के सन्दर्भानुसार निश्चित होता है।

(3) जिन लगान वक्रों का ढाल तेज होगा, वे ही केन्द्रीय स्थिति प्राप्त करेंगे। अन्य शब्दों मे केन्द्रीय नगर से दूरी बढ़ने से लाभ की मात्रा कम हो जाती है।

वॉन थ्यूनेन के सिद्धान्त की आलोचना

वान थ्यूनेन के कृषि स्थानीयकरण के सिद्धान्त की आलोचना निम्नलिखित आधार पर की गई है—

(क) इनके द्वारा कथित मान्यताएँ ऐसी है जो वास्तविकता से परे है। फलस्वरूप इनके द्वारा प्रदर्शित कृषि उत्पादन के संकेन्द्रीय वृत्त खण्ड कहीं भी उस रूप में नहीं मिलते। यद्यपि वान थ्यूनेन ने यह स्वयं स्वीकार किया है कि परिवहन साधन के परिवर्तन के साथ-साथ उनके संकेन्द्रीय वृत्त खण्डो का स्वरूप भी बदल जायेगा।

(ग्र) नदी द्वारा यातायात विकास होने पर विभिन्न फसलों का उत्पादन वृत्त खण्डों में न होकर नदी के दोनों ओर समानान्तर खण्डों में होगा।

(ब) यदि कोई क्षेत्र समान मिट्टी तथा उपजाऊपन का क्षेत्र है लेकिन बाजार से फार्म की दूरी एवं यातायात लागत समान नहीं है तथा मुख्यमार्ग एकमात्र पश्चिम से पूर्व है, जहाँ ढुलाई दर अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा एक-तिहाई सस्ती है, तब भूमि उपयोग का स्वरूप निम्न प्रकार होगा—
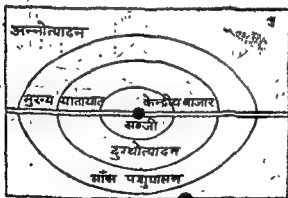
चित्र : 4.12

(स) यदि मुख्य सड़क उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व है, ढुलाई दर अन्य दिशाओं की अपेक्षा सस्ती है तथा दो उप-सड़के फार्मों का सम्बन्ध मुख्य मार्ग से स्थापित करती है। तब ऐसे क्षेत्र में कृषि का स्थानीयकरण निम्नलिखित प्रकार से होगा—
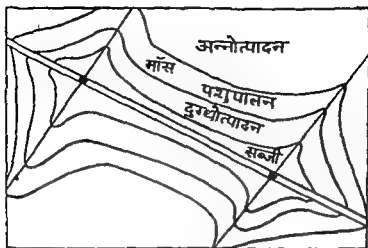
चित्र : 4.13

(द) यदि दो बाजार केन्द्र स्थापित हो जाये तो स्थिति निम्नलिखित प्रकार की होगी—
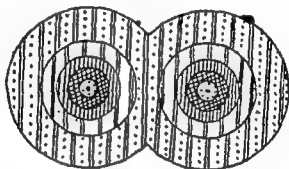
चित्र : 4.14

दो बाजार केन्द्र और भूमि उपयोग पेटियाँ

(5) यदि तीन बाजार केन्द्र हो तो भूमि उपयोग सकेन्द्र निम्नलिखित प्रकार से पाये जायेगे।
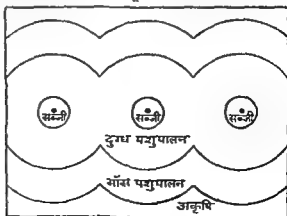
चित्र : 4.15

(3) अनेक बजार केन्द्र की स्थिति में भूमि उपयोग स्वरूप निम्नलिखित होगा—
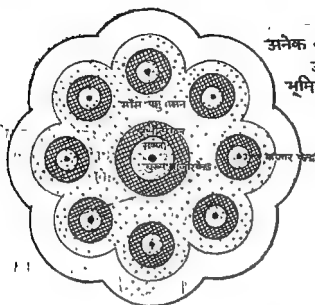
चित्र : 4.16

(क) यदि एकाकी मैदान में कोई दूसरा उपनगर हो तो उसकी अपनी स्वतंत्र भूमि में संकेन्द्रीय.वृत्त खण्डों में विभिन्न फसलों का उत्पादन होगा।

(2) कृषि के स्थानीयकरण के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप से चरितार्थ करने में थ्यूनेन की काल्पनिक मान्यताएँ खरी नहीं उतरती है। अनेक नए कारकों के समावेश के कारण भूमि उपयोग की दशाओं में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। कृषि उत्पादन की तकनीक, परिवहन के साधन एवं परिवहन व्यय दर संरचना, बाजारों की संख्या एवं उनकी आर्थिक स्थिति भिन्न-भिन्न कारकों के कारण भूमि उपयोग स्वरूप में शीघ्र परिवर्तन हो जाता है।

(3) किसी भी आकार-प्रकार के क्षेत्र में प्राकृतिक वातावरण विशेषतः मिट्टी की उत्पादन क्षमता में समरूपता मिलना भी बहुत कठिन है। यदि यह भी मान लिया जाय कि किसी अवधि विशेष में तकनीक, परिवहन तथा बाजार सम्बन्धी कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। तब भी केवल धरातल, जलवायु एवं मिट्टी की भिन्नता के कारण थ्यूनेन द्वारा प्रतिपादित फसल उत्पादन का संकेन्द्रीय वृत्त खण्ड रूप चरितार्थ नहीं होगा। इसके लिए अनेक व्यावहारिक परिस्थितियों की कल्पना की जा सकती है—

चित्र : 4.17→

(क) यदि केन्द्रीय नगर के एक ओर समतल तथा अच्छी उपजाऊ भूमि है तथा दूसरी ओर ऊबड़-खाबड़ धरातल तथा कम उपजाऊ मिट्टी क्षेत्र है तो सकेन्द्रीय वृत्त खण्ड एक ओर अधिक दूर तथा दूसरी ओर सीमित भाग पर बनेंगे ।

←चित्र : 4.18

(ख) यदि नगर के चारों ओर मिट्टी की उत्पादन क्षमता में अन्तर है, तब भी विभिन्न फसलों के वृत्त-खण्ड विकृत हो जायेंगे ।
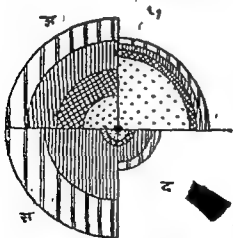
←चित्र : 4.19

(अ) नगर के एक ओर मिट्टी की उत्पादन क्षमता सभी फसलों के लिए समान है अतः वहां संकेन्द्रीय वृत्त खण्ड समान दूरी पर बनेंगे।

(ब) दूसरी ओर मिट्टी पहली फसल के लिए अधिक उपयुक्त है पर अन्य फसलों के लिए उतनी उपयुक्त नहीं है।

(स) तीसरी ओर मिट्टी तीसरी व चौथी फसल के लिए अधिक उपयुक्त है। पर पहली एव दूसरी फसलों के लिए अपेक्षाकृत अनुपयुक्त है।

(द) सभी फसलों के अनुपयुक्त मिट्टी है।

(य) यदि नगर से काफी दूरी पर मिट्टी तथा जलवायु इतनी उपयुक्त है कि वहां पहली एवं दूसरी फसल का उत्पादन अधिक लाभदायक है एवं कम खर्च पर उन्हें बाजार तक पहुंचाया जा सकता है तो इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी।
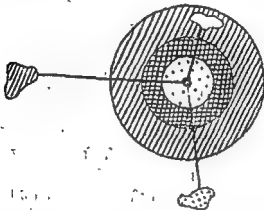
←चित्र : 4.20

सिद्धान्त का महत्व

यदि व्यावहारिक परिस्थितियों को पुनर्स्थापित कर दिया जाय तो कृषि स्थानीयकरण में क्रमबद्धता पाना कठिन होगा। वास्तव में वान थ्यूनेन का कृषि स्थानीयकरण सिद्धान्त तथा उसका विवेचन मूल प्रवृत्तियों का द्योतक है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वान थ्यूनेन के कृषि विश्लेषण पद्धति अथवा उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त की सत्यता में कमी है। वास्तव मे वान थ्यूनेन ने कृषि के स्थानीयकरण का विवेचन वैज्ञानिक ढंग से किया है तथा उसकी मूल प्रवृत्तियो का सही रूप प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि अध्ययनकर्त्ता सिद्धान्त की मौलिक सत्यता तथा विश्लेषण प्रकृति की आलोचना न करके व्यावहारिक एवं वास्तविक परिस्थितियो का समावेश करते है। वान थ्यूनेन के सिद्धान्त का विशेष महत्व है क्योंकि इस सिद्धान्त ने कृषि भूगोल अध्ययन में नए अध्याय का शुभारम्भ किया तथा अनेक विद्वानो का ध्यान आकर्षित किया। आगे चलकर अधिवासों के विशेष अध्ययन मे भी इस सिद्धान्त ने आधारभूत विचार की भूमिका अदा की।

कृषि स्थानीयकरण के अन्य विचार

कृषि कार्य किसी बिन्दु विशेष पर न होकर एक लम्बे-चौड़े क्षेत्र में अवस्थित होता है। जिसमें प्राकृतिक वातावरण तथा भूमि संसाधन की क्षेत्रीय विभिन्नता पाई जाती है। लेकिन इस क्षेत्र के भीतर ही कहीं पर एक छोटा क्षेत्र ऐसा भी होता है जो किसी फसल विशेष के लिए अनुकूलतम प्राकृतिक दशाएँ रखता है। इसके समीप अन्य क्षेत्रों का उस फसल विशेष के लिये विकास किया जाता है और तकनीकी साधनों द्वारा प्राकृतिक वातावरण एवं भूमि सम्बन्धी कमियों को पूरा किया जाता है। यह सीमा घटती बढ़ती रहती है और तब तक बढ़ाई जाती है, जब तक कि भूमि की प्रति इकाई में फसल उत्पादन करने में लागत से अधिक व्यय न हो। इस प्रकार उत्पादन के दृष्टिकोण से न्यूनतम आवश्यकताओं के आधार पर फसलों के उत्पादन के लिए क्षेत्र विशेष का सीमांकन किया जाता है। इसे "प्राकृतिक सीमाओं और आर्थिक दशाओं का सिद्धांत" कहते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में फसल उत्पादन की विभिन्न पेटियाँ, सोवियत रूस में ग्रीष्मकालीन व बसंतकालीन गेहूँ के क्षेत्रों तथा चीन में गेहूँ, कैयोलिन और सोयाबीन के उत्पादन क्षेत्रों का सीमांकन इसी आधार पर किया गया है।

उपर्युक्त विचारधारा से भिन्न यह भी एक विचारधारा है जिसके अनुसार बिक्री व्यवस्था एवं बाजार में मिलने वाली कीमत के अनुपात में उत्पादन लागत से भी फसलों के उत्पादन का क्षेत्र सीमित होता है। इस प्रकार की सीमा का निर्धारण ऐसी रेखा द्वारा होगा जो उन स्थानों को मिलाती हो। जहाँ प्रति इकाई मूल्य उत्पादन लागत बाजार में प्रति इकाई उत्पादन की कीमत के बराबर होती है। इस स्थिति में उत्पादन लागत के अन्तर्गत भूमि, श्रम, सिंचाई आदि अनिवार्य तत्वों के अतिरिक्त परिवहन व्यय सम्बन्धी तत्व भी सम्मिलित होता है। इस प्रकार की विचारधारा को "आर्थिक सीमाओं तथा अनुकूलतम दशाओं का सिद्धान्त" कहते है। विश्व के प्रमुख अन्न के निर्यातक देशों में की जाने वाली व्यापारिक कृषि के अन्तर्गत विभिन्न फसलों के क्षेत्र निर्धारण में यह विचार लागू होता है।
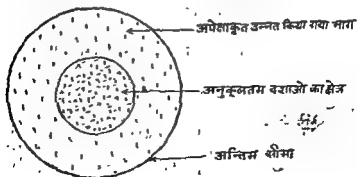
चित्र 4.21

उपरोक्त दोनों विचारधाराओं में कृषि के लिए आवश्यक तत्व प्राकृतिक दशा व आर्थिक दशाओं को अलग-अलग तत्व मानकर उनकी महत्ता स्वीकार की गई है। जबकि कृषि कर्म के अन्तर्गत प्राकृतिक व आर्थिक दशाओं का मिला-जुला प्रभाव पड़ता है वैसे भी पिछले पृष्ठों में बताए गए विभिन्न सिद्धान्तो के अन्तर्गत उनकी चर्चा कर ली गई है।

कृषि के विभिन्न पहलुओं का सैद्धान्तिक विवेचन

कृषि के स्थानीयकरण एव बाजार या केन्द्रीय स्थान से बढ़ती हुई दूरी के साथ फसलों के विशिष्ट क्षेत्रों की सैद्धान्तिक विवेचना के साथ कृषि कार्य से सम्बन्धित अन्य कई प्रकार की समस्याओ का भी सैद्धान्तिक विवेचन विद्वानो द्वारा किया गया है क्योकि मानव के प्रमुख व्यवसायों मे कृषि का विशिष्ट स्थान है और विश्व की 51 प्रतिशत जनसंख्या आज भी कृषि कार्य में लगी हुई है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि मनुष्य की मूलभूत आवश्यकता—भोजन का 98 प्रतिशत कृषि द्वारा ही प्राप्त होता है। अतः कृषि के लिए उपलब्ध भूमि का अधिकतम विदोहन, अधिकतम उत्पादन एवं लाभ देने वाली फसलो का चयन, एक ही अवधि में विभिन्न फसलों का साथ-साथ उत्पादन आदि कई दिलचस्प बातो के अध्ययन को सैद्धान्तिक रूप दिये जाने का प्रयास किया जाता रहा है। संक्षेप में इन्हे निम्नलिखित तीन वर्गों मे रखा जा सकता है—

(अ) भूमि उपयोग से सम्बन्धित अध्ययन
- (i) भूमि उपयोग संकल्पना
- (ii) भूमि उपयोग क्षमता

(ब) फसलों के चुनाव से सम्बन्धित अध्ययन
- (i) शस्य क्रम गहनता संकल्पना
- (ii) शस्य सम्मिश्रण एवं साहचर्य संकल्पना
- (iii) शस्य स्वरूप संकल्पना

(स) कृषि क्षमता या उत्पादकता सम्बन्धी अध्ययन

(अ) भूमि उपयोग से सम्बन्धित अध्ययन

(i) भूमि उपयोग संकल्पना—'भूमि' शब्द का प्रयोग अर्थशास्त्र में प्रायः उत्पादन सम्बन्धी तमाम प्रकार के प्राकृतिक साधनो एवं कच्चे माल से लिया जाता है किन्तु आर्थिक भूगोल मे भूमि का तात्पर्य एक क्षेत्र से है और इसकी तमाम विशेषताएँ—जलवायु, मिट्टी, धरातलीय बनावट भी इसी के साथ सम्मिलित मानी जाती है। अपनी इन्ही विशेषताओं के कारण विश्व के अलग-अलग भागों मे भूमि उपयोग भी अलग-अलग प्रकार का पाया जाता है। कृषि कार्य के लिए अनुकूल प्राकृतिक दशाएं अत्यावश्यक हैं किन्तु वर्तमान काल में मानव द्वारा अपने प्रयासों से भी भूमि की विशेषताओं को कृषि के अनुकूल बनाने का प्रयास किया जाता है

और इस क्रम में भूमि की अवस्थिति का महत्वपूर्ण स्थान है। माँग, पूर्ति मूल्य, यातायात सुविधा, बजार से दूरी आदी। चर किसी क्षेत्र मे सन्तुलित भूमि उपयोग को प्रभावित करते है, ए. कोलमैन (1969) द्वारा भूमि उपयोग संकलपना का एक सरल प्रतिदर्श निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत किया गया है—
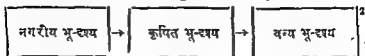
समाज के विभिन्न स्तरों पर भी भूमि उपयोग की भिन्न-भिन्न दशायें पाई जाती हैं—

कृषिगत भूमि
[जोत वाली भूमि]

अकृषि भूमि
[बिना जुती हुई भूमि]

अकृष्य भूमि
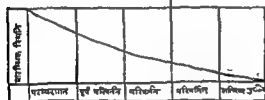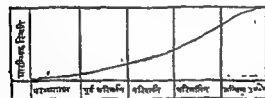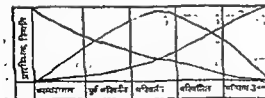
कृषिगत, अकृषि एवं अकृष्य
भूमि की स्थिति

आर्थिक विकास पर आधारित भूमि उपयोग की स्थिति

चित्र : 4.22

2. Townscape → Farmscape → Wildscape. A Coleman : A Geographical model for landuse analysis.

चित्र : 4.23

विश्व : परम्परावादी समाजों में भूमि उपयोग
चावल प्रधान गहन कृषि
चावल-रहित गहन कृषि
विस्तृत हल कृषि
चलवासी पशुचारण

चित्र : 4.24

विश्व: आधुनिक समाजो मे भूमि उपयोग
गहन फसल कृषि
व्यापारिक कृषि
निर्वाहिक एवं स्थानीय बाजार कृषि
फसल कृषि एवं पशुपालन
डेयरी फार्मिंग
पशुपालन

चित्र : 4.25
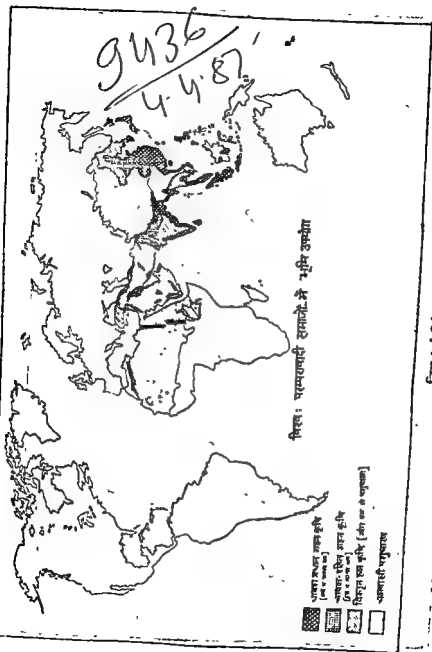
कुल उपलब्ध भूमि में से बोई गई भूमि का अनुपात ज्ञात करना भूमि उपयोग क्षमता सम्बन्धी अध्ययन का मुख्य आधार है। समान क्षेत्र वाले दो क्षेत्रों के अन्तर्गत बोये गये क्षेत्र का अनुपात भिन्न-भिन्न हो सकता है। इस भिन्नता के कारण प्रकृतिक और मानवीय दोनों होते हैं। कई बार पूँजी तथा श्रम के क्रमिक प्रयोग से भूमि की उत्पादकता बढ़ाकर यह अनुपात बढ़ जाता है और कई बार भू-कटाव, बाढ़, अतिवृष्टि, अनावृष्टि या भूकम्प-ज्वालामुखी के कारण बढ़ा हुआ अनुपात भी कम हो जाता है। अतः इस संकल्पना के माध्यम से दो क्षेत्रों की भूमि उपयोग क्षमता की तुलना करने के साथ-साथ एक क्षेत्र की विभिन्न अवधि में भी इस क्षमता की तुलना की जा सकती है।

इस प्रकार का अध्ययन किसी क्षेत्र की भूमि उपयोग अवस्था को भी प्रदर्शित करता है जो जनसंख्या के घनत्व के रूप में भूमि की मांग और तकनीकी अन्तर के रूप में पूँजी का भी आभास देता है। कृषि के क्षेत्र में गहन कृषि और विस्तृत कृषि सम्बन्धी वर्गीकरण भूमि उपयोग क्षमता को ही प्रदर्शित करता है। इस दृष्टि से जनसंख्या और तकनीकी अन्तर के कारण चार परिस्थितियाँ पाई जाती हैं—

(1) विरल जनसख्या एवं परम्परागत तकनीक

(2) विरल जनसख्या एवं विकसित तकनीक

(3) सघन जनसंख्या एवं परम्परागत तकनीक

(4) सघन जनसंख्या एवं विकसित तकनीक

उपर्युक्त चारों स्थितियाँ भूमि उपयोग क्षमता को प्रभावित करती हैं। भूमि उपयोग के विभिन्न तत्वों जैसे—सिंचित, असिंचित, एक फसली, दो फसली और बहुफसली, उर्वरकों के प्रयोग आदि को आधार मानकर इन्हें सख्यात्मक मान देते हुए अलग-अलग क्षेत्रों की भूमि उपयोग क्षमता की गणना की जा सकती है, उनको वर्गीकृत किया जा सकता है एवं उनके बीच तुलना की जा सकती है—
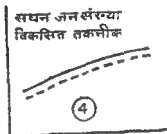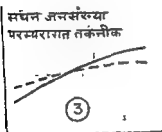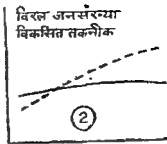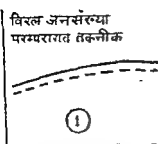
चित्र : 4.26

उपर्युक्त रेखाचित्रों में—(1) विरल जनसख्या और परम्परागत तकनीक में भूमि उपयोग क्षमता जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ चलती रहती है। भूमि की कोई कमी नहीं होती। ज्यों-ज्यों जनसंख्या बढ़ती जाती है, भूमि का उपयोग भी बढ़ता रहता है।

(2) जनसख्या विरल होने पर भी विकसित तकनीक के कारण भूमि उपयोग क्षमता अधिक होती है और व्यापारिक कृषि का प्रचलन बढता है।

(3) सघन जनसख्या और परम्परागत तकनीक वाले क्षेत्र में प्रारम्भ में भूमि उपयोग क्षमता अधिक होती है। कालान्तर में जनसंख्या की तीव्र वृद्धि की तुलना में वह कम हो जाती है।

(4) सघन जनसख्या और विकसित तकनीक की स्थिति में भूमि उपयोग क्षमता जनसख्या की वृद्धि के साथ-साथ चलती रहती है क्योंकि अधिक जनसख्या के भरण-पोषण के लिए भूमि का अधिकतम उपयोग एवं विदोहन किया जाता है।

कृषि क्षमता या उत्पादकता
(Agriculture Efficiency or Productivity)

कृषि से प्राप्त उत्पादन की प्रति इकाई मात्रा में क्षेत्रीय भिन्नता मिलती है। जिसका एक सर्वमान्य कारण प्राकृतिक दशाओं—जलवायु, मिट्टी आदि में अन्तर पाया जाना है। परन्तु इसके साथ ही मानव-समूह की कृषि करने की क्षमता और

तकनीकी कुशलता भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि उत्पादन प्रक्रिया में इसका प्रयोग करने पर उत्पादन में वृद्धि होती है। विभिन्न दृष्टिकोणों से कृषि की उत्पादन मात्रा पर आधारित अध्ययन कृषि क्षमता या उत्पादकता का अध्ययन कहलाता है। विभिन्न कृषि क्षेत्रों की पोषक क्षमता और उनका तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए इस प्रकार का अध्ययन उपयोगी होता है।

कृषि क्षमता या उत्पादकता निर्धारित करने के लिए विद्वानों ने कई विधियों का प्रयोग किया है। कुछ प्रमुख विधियाँ निम्नलिखित प्रकार से हैं—

कृषि उत्पादन से प्रति व्यक्ति उपलब्ध अन्न पर आधारित विधि (अन्न तुल्य विधि) जे. एल. बक (1967) द्वारा चीन में प्रचलित जीवन-निर्वाह कृषि को ध्यान में रखकर भूमि की प्रति इकाई से उत्पन्न अन्नोत्पादन की प्रति व्यक्ति उपलब्धता ज्ञात करके विभिन्न क्षेत्रों को प्रदर्शित किया। श्रीज द्वारा इस विधि में संशोधन करके एशियाई देशों के कुल अन्नोत्पादन को चावल से साथ सम्बद्ध कर प्रति व्यक्ति चावल की उपलब्धता को ज्ञात किया। यहाँ चावल प्रमुख अन्न (भोजन) होने के कारण ही अन्य अन्नों को भी स्थानीय बाजार मूल्य के आधार पर चावल की इकाई में बदल लिया गया। सी. क्लार्क तथा एम. हैसवेल द्वारा इस विधि के अन्तर्गत चावल के स्थान पर गेहूँ को रखा (चावल प्रधान, गेहूँ प्रधान या किसी अन्य अन्न प्रधान उत्पादन कृषि के आधार पर विद्वानों द्वारा यह परिवर्तन किया गया। बरना विधि समान है।) यह एक सरल विधि है जिसके द्वारा कृषि में होने वाली उन्नति अथवा विभिन्न क्षेत्रों के बीच कृषि हालात का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है।

प्रति एकड़ उपज तथा कोटि गुणांक पर आधारित विधि

इस विधि के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित प्रमुख फसलों का चुनाव किया जाता है। प्रत्येक फसल के प्रति एकड़ उत्पादन के आधार पर फसलों की श्रेणियाँ बना ली जाती हैं। पुनः चुनी हुई फसलों की प्रत्येक इकाई की गणना श्रेणियों को जोड़ा जाता है। तत्पश्चात् प्रत्येक इकाई की श्रेणी से प्राप्त जोड़ में चुनी हुई फसलों की संख्या का भाग दिया जाता है और इस प्रकार जो संख्या प्राप्त होती है, उसे श्रेणी गुणांक कहते है। एम. जी. केन्डेल (1939) ने इंग्लैण्ड के लिए 10 फसलें चुनकर, एल. डी. स्टाम्प (1960) के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बीस देशों और उनमें प्रचलित नौ फसलों को चुनकर तथा मोहम्मद शफी (1960) ने उत्तर प्रदेश के जिलों तथा उनमें प्रचलित आठ फसलों को चुनकर इस विधि का प्रयोग कृषि उत्पादकता ज्ञात करने के लिए किया।

बी. एन. गांगुली (1938) द्वारा गंगा घाटी की नौ फसलों को चुनकर उपज सूची सूत्र के आधार पर कृषि क्षमता को ज्ञात किया। यह सूत्र निम्नलिखित प्रकार से है—

$$\frac{\text{अध्ययन इकाई के 'अ' फसल की प्रति एकड़ उपज}}{\text{सम्पूर्ण प्रदेश मे 'अ' फसल की औसत उपज}} \times 100$$

तत्पश्चात् 'अ' फसल के अन्तर्गत बोये गये क्षेत्र का कुल उपज क्षेत्र से प्रतिशत निकाल कर उपज सूची से गुणा करके कृषि क्षमता ज्ञात की गई।

चुनी गई फसलो के अन्तर्गत बोये गये क्षेत्र के स्थान पर कुल बोये गये क्षेत्र के आधार पर गणना करने के कारण इस विधि की आलोचना की गई क्योंकि इस साधारण औसत के कारण प्रति इकाई अधिक उत्पादन देने वाली किन्तु कम क्षेत्र मे बोयी जाने वाली फसल की गलत तस्वीर सामने आती है। अतः सप्रे तथा देशपाण्डे (1964) ने महाराष्ट्र राज्य की कृषि क्षमता निकालने के लिए फसलों के अन्तर्गत बोये गये क्षेत्र का प्रतिशत निकाल कर कोटि गुणांक की गणना की, जिसे उन्होंने 'भारित-औसत' नाम दिया।

(स) उपज सूची विधि

एस. एस. भाटिया (1967) ने उत्तर प्रदेश के विभिन्न जिलों की कृषि क्षमता निर्धारित करने के लिए किसी फसल की भूमि की प्रति इकाई उपज तथा फसल के अन्तर्गत बोये गये क्षेत्र को ध्यान में रखकर निम्नलिखित सूत्र का प्रयोग किया—

(i) $$Lya = \frac{y_c}{y_r} \times 100$$

जहाँ

$Lya = a$ फसल की सूची; $y_c = a$ फसल की प्रति इकाई उपज

$y_r = a$ फसल की सम्पूर्ण क्षेत्र की प्रति एकड़ उपज

(ii) $$E = \frac{Lya\ Ca + Lyb\ cb + \cdots\cdots\ Lyn\ Cn}{Ca + Cb + \cdots\cdots Cn}$$

फसलो की उपज सूची; Ca, Cb·······Cn अनेक फसलों के अन्तर्गत क्षेत्र का कुल फसल क्षेत्र का प्रतिशत।

(द) भूमि भार पोषण क्षमता विधि

जसबीर सिंह (1972) द्वारा हरियाणा की कृषि उत्पादकता को ज्ञात करने के लिए भूमि भार पोषण क्षमता विधि का प्रयोग किया। इस विधि के अनुसार विभिन्न फसलों के उत्पादन को केलोरीज में बदल लिया जाता है और कृषि क्षमता या उत्पादकता के लिए निम्नलिखित सूत्र काम में लिया जाता है—

$$Iac = \frac{Cpe}{Cpr} \times 100$$

जहाँ

Iac = भूमि की प्रति इकाई की कृषि क्षमता
Cpe = भूमि की प्रति इकाई की भूमि भार पोषक क्षमता ।
Cpr = सम्पूर्ण प्रदेश की भूमि भार पोषक क्षमता ।

कृषि के अन्तर्गत उत्पादित किए जाने वाली खाद्यान्न फसलों के अतिरिक्त तम्बाकू, कपास, गन्ना, चारा, तिलहन आदि कई फसलें ऐसी है जिन्हें केलोरीज में नही बदला जा सकता । अतः ऐसे क्षेत्रों के लिए यह विधि बेकार है ।

(ड) अन्य विधियाँ

जी. वाई. इनैदी (1964) द्वारा कृषि उत्पादकता ज्ञात करने के लिए निम्नलिखित सूत्र प्रतिपादित किया —

$$\frac{Y}{Y_n} \times \frac{T}{T_n}$$

जहाँ

Y = इकाई क्षेत्र चुने गये फसल के पैदावार की कुल मात्रा
Y_n = राष्ट्रीय स्तर पर फसल के पैदावार की कुल मात्रा
T = जिला मे फसल के अन्तर्गत कुल क्षेत्र
T_n = राष्ट्रीय स्तर पर फसल के अन्तर्गत कुल क्षेत्र ।

माजिद हुसैन (1976) द्वारा सतलज-गंगा मैदान की कृषि उत्पादकता ज्ञात करने के लिए अध्ययन क्षेत्र के अन्तर्गत बोई जाने वाली सभी फसलों के मूल्य के आधार पर गणना करने के लिए निम्नलिखित सूत्र का प्रयोग किया—

जहाँ

$$Lj = \frac{\sum_{1=i}^{n} yijCij}{aij} + \frac{\sum_{I=1}^{n} yi\ Cz}{Az}$$

lj = j जनपद (क्षेत्र) मे कृषि उत्पादकता
yzj = j क्षेत्र (जनपद) में i फसल का मूल्य
czj = j क्षेत्र (जनपद) मे i फसल का मूल्य
n = j क्षेत्र (जनपद) मे उगाई गई फसलोंकी कुल संख्या
azj = j जनपद में i फसल के अन्तर्गत क्षेत्र

Yz = सम्पूर्ण प्रदेश में i फसल का उत्पादन
Cz = सम्पूर्ण प्रदेश में z फसल के अन्तर्गत कुल क्षेत्र दूसरे शब्दो मे

$$\text{कृषि उत्पादकता} = \frac{\text{इकाई मे उत्पन्न सभी फसलो का मूल्य}}{\text{जनपद मे बोया गया क्षेत्रफल}} + \frac{\text{अध्ययन क्षेत्र में उत्पन्न सभी फसलों का मूल्य}}{\text{अध्ययन क्षेत्र मे बोया गया क्षेत्रफल}}$$

शस्य क्रम गहनता
(Cropping Intensity)

इस शब्द के लिए कृषि गहनता (वी. एस. त्यागी 1972) और भूमि उपयोग क्षमता (जसबीरसिंह, 1974) का प्रयोग भी किया गया है। कृषक द्वारा प्रायः जो भी फसलें बोई जाती हैं, वे एक वर्ष के भीतर पककर तैयार हो जाती हैं और काट ली जाती है। दूसरे शब्दों मे बुआई से कटाई तक का समय एक वर्ष से कम ही होता है। बागाती कृषि को छोड़ा जा सकता है। परन्तु कई क्षेत्रों में वर्ष में एक ही भूमि से एक से अधिक फसलें भी उत्पन्न की जाती है। इस प्रकार उस भूमि का उपयोग वर्ष में एक से अधिक बार होता है। यह स्थिति को एक ओर प्राकृतिक दशाओं, जलवायु, भूमि की उर्वरता के कारण होती है और दूसरी ओर कृषक की चतुरता—सिंचाई, बीज, खाद, श्रम आदि के समुचित प्रयोग के कारण भी होता है। इस प्रकार शुद्ध कृषि क्षेत्र और कुल फसल क्षेत्र में भिन्नता होती है। पहला कृषि के अन्तर्गत भूमि के वास्तविक क्षेत्रफल को प्रदर्शित करता है और दूसरा कृषिगत भूमि के बार-बार उपयोग को बताता है।

इस प्रकार किसी क्षेत्र की कृषिगत भूमि की शस्य क्रम गहनता के लिए निम्नलिखित सूत्र का प्रयोग किया जाता है—

$$\frac{\text{कुल फसल क्षेत्र}}{\text{शुद्ध बोया गया क्षेत्र}} \times 100$$

उपर्युक्त सूत्र के अनुसार—यदि कुल क्षेत्र एक फसली है तो शस्य क्रम गहनता 100% होगी किन्तु क्षेत्र का कुछ भाग दो फसली है तो शस्य क्रम गहनता 100% से अधिक होगी।

जिन खेतों में एक साथ एक से अधिक ऐसी फसलें बोई जाती हैं जिनको पककर तैयार होने की अवधि अलग-अलग है। वहाँ यदि जल्दी पकने वाली फसल के स्थान पर वर्ष के भीतर कोई अन्य फसल भी उत्पादित कर ली जाये तो उतने क्षेत्रफल वाली भूमि को कुल फसल क्षेत्र की गणना के लिए जोड़ दिया जायगा। ऐसा करने के लिये अध्ययनकर्त्ता को ग्राम स्तर पर आंकडे एकत्र करने

पड़ते है। छपे हुए या पटवारी द्वारा प्राप्त आंकडे गलत चित्र प्रस्तुत कर सकते हैं।

शस्य सम्मिश्रण एवं साहचर्य
(Crop Combination and Association)

कृषि की क्षेत्रीय विशेषतायें ज्ञात करने के लिये किसी क्षेत्र में बोई जाने वाली विभिन्न फसलों का अध्ययन किया जाता है। योजनाबद्ध रूप से फसलो के उत्पादन और किसी क्षेत्र की कृषिगत भूमि से अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए ऐसा अध्ययन उपयोगी होता है। यद्यपि किसी क्षेत्र की भौतिक दशायें (जलवायु, मिट्टी, जल-ससाधन, धरातल आदि) विशेष प्रकार की फसलें बोने के लिये कृषक को प्रेरित करती हैं किन्तु मानवीय प्रयासो द्वारा इनमें परिवर्तन, परिवर्द्धन किया जा सकता है। अतः किसी क्षेत्र मे शस्य सम्मिश्रण के प्रचलित स्वरूप को ज्ञात करने के लिए विद्वानो ने कई प्रकार से विचार किया है। कुछ प्रमुख विधियाँ निम्नलिखित प्रकार से हैं—

(1) जे. सी. वीवर (1954) ने किसी क्षेत्र में बोई जाने वाली तमाम फसलो के अन्तर्गत प्रयोग मे लाये गये क्षेत्र के प्रतिशत को अवरोही क्रम मे रखा। पुनः सम्पूर्ण बोये गये क्षेत्र को फसलो की संख्या के अनुसार अनेक भागो में विभाजित करके सैद्धान्तिक प्रतिशत निकाला तथा तत्पश्चात् बोये गये वास्तविक क्षेत्र और सैद्धान्तिक प्रतिशत के अन्तर का वर्ग निकाला तथा सभी को जोड़कर फसलो की संख्या से भाग दिया। यह क्रिया हर बार एक-एक फसल को बढाते जाने के साथ आगे बढती जाती है। इस प्रकार प्राप्त परिणामों के सबसे कम अंक के आधार पर शस्य सम्मिश्रण का निर्धारण किया जाता है। सक्षेप मे यह सूत्र $\Sigma d^2/n$ द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।

उदाहरण के लिए किसी क्षेत्र में अ, ब, स, द चार फसलें बोई जाती है जिनके अन्तर्गत क्रमशः 35, 30, 25 और 10 प्रतिशत क्षेत्रफल आता है। वीवर के अनुसार गणना निम्नलिखित प्रकार से होगी—

(1) $\left(\frac{100-35}{1}\right)^2 = 4225;$

(2) $\frac{(50-35)^2 + (50-30)}{2} = \frac{225+400}{2} = \frac{625}{2} = 312 \cdot 5$

(3) $\frac{(33 \cdot 33 - 35)^2 + 33 \cdot 33 - 30)^2 + (33 \cdot 33 - 25)^2}{3} =$

$= 28 \cdot 87023$

(4) $$\frac{(25-35)^2+(25-30)^2+(25-25)^2+(25-10)^2}{4}$$

$$=\frac{100+25+0+225}{4}=\frac{350}{4}=87.5$$

उपर्युक्त गणना में (1) मे एक ही फसल उनकी गणना हेतु सैद्धान्तिक प्रतिशत 100 तथा वास्तविक क्षेत्र 35 है, (2) में दो फसलें अ तथा ब की गणना हेतु सैद्धान्तिक प्रतिशत $\frac{100}{2}=50$ तथा वास्तविक क्षेत्र 35 व 30 है (3) मे तीन फसलें अ, ब तथा स की गणना हेतु $\frac{100}{3}=33.33$ तथा वास्तविक क्षेत्र 35, 30 तथा 25 है तथा (4) में चार फसलें अ, ब, स तथा द की गणना हेतु सैद्धान्तिक प्रतिशत $\frac{100}{4}=25$ तथा वास्तविक क्षेत्र 35, 30, 25 तथा 10 है। इस गणना में सबसे कम अंक 27.87023 आया, अतः उस क्षेत्र में तीन फसलो (अ, ब तथा स) का समिश्रण होगा। डी. थामस (1963), जे. टी. कोप्पाक (1964), वी. एल. सी. जानसन (1958), एल. एल. पावनाल (1954), एच. जे. नेल्सन (1955), पीटर स्काट (1957), बी. बनर्जी (1964) आदि विद्वानों ने वीवर की विधि का अपने अध्ययनों में संशोधनों के साथ प्रयोग किया।

(2) के. दोई (1957) ने शस्य समिश्रण के लिये एक अलग प्रकार की विधि का विकास किया। किसी क्षेत्र में बोई जाने वाली विभिन्न फसलों को चुनकर उनके अन्तर्गत बोये गये कुल क्षेत्र के अनुसार श्रेणियां बना ली जाती है। 50% से ऊपर निर्णायक मान (Critical Values) सम्बन्धी एक तालिका बनाई है जिसमे 50% निर्णायक मान शून्य माना गया है। यह तालिका फसलों के विचलन विश्लेषण के आधार पर तैयार की गई है :—

के. दोई के शस्य समिश्रण से सम्बन्धित निर्णायक मानों की तालिका

तत्वों की कोटि	उच्च कोटि तत्वों के प्रतिशतों का योग						
	50	55	60	65	68	70	75
2.	0	5.38	11.27	18·38	23·54	27·64	--
3.	0	2.68	5.46	8·68	10·73	12·25	16·67
4.	0	1.37	3.59	5·63	6·98	7·93	10·57
5.	0	1.29	2·68	4·19	5·17	5·96	7·57
6.	0	1.04	2·14	3·34	4·11	4·65	6·13

दोई द्वारा निम्नलिखित सूत्र काम में लाया गया—

Σd^2

(3) रफीउल्लाह द्वारा प्रतिपादित विधि—

$$\text{सूत्र}—\delta = \frac{\sqrt{\Sigma D^2 p - D^2 n}}{n^2}$$

δ = विचलन

DP = धनात्मक अन्तर

Dn = सम्मिश्रण के सैद्धान्तिक वक्र मध्यवर्ती मान से ऋणात्मक अन्तर

n = सम्मिश्रण में कार्यों की संख्या

सैद्धान्तिक मान के मध्यमान से वास्तविक मान के अन्तर को निकाला गया है तथा सर्वाधिक धनात्मक विचलन से शस्य सम्मिश्रण ज्ञात होता है।

शस्य प्रारूप (Cropping Pattern)

कृषि के अन्तर्गत कई प्रकार की फसलों का उत्पादन किया जाता है। फसलों के क्षेत्रीय वितरण से बने प्रारूप को ही शस्य प्रारूप कहते हैं। इसके अन्तर्गत प्रत्येक फसल क्षेत्र के प्रतिशत की गणना कुल फसल क्षेत्र से करते हुए फसल श्रेणी क्रम ज्ञात कर लिया जाता है और इस प्रकार शस्य प्रारूप मालूम किया जाता है। शस्य प्रारूप के द्वारा भौतिक, आर्थिक, सामाजिक और संस्थागत कारकों का कृषि-अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभाव की जानकारी प्राप्त हो जाती है अथवा शस्य प्रारूप मे वांछित परिवर्तन करके आर्थिक विकास की गति तेज करने के लिए उक्त कारकों के प्रभाव में संशोधन या परिवर्द्धन करने के लिये दिशा प्राप्त होती है और इस प्रकार किसी क्षेत्र के लिये अनुकूलतम शस्य-प्रारूप का सुझाव दिया जा सकता है। विश्व के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के शस्य-प्रारूप की तुलना करने के साथ-साथ किसी क्षेत्र विशेष में विभिन्न वर्षों में पाये गये शस्य-प्रारूप का तुलनात्मक अध्ययन भी इस प्रकार किया जा सकता है और वस्तुस्थिति को बताने के लिये निम्नलिखित शब्दों का प्रयोग किया जाता है—

(1) क्षेत्रीय घट-बढ़ (Spatial Variation)—जब किसी फसल वितरण का अध्ययन दो विभिन्न समयों में प्रतिशत अन्तर के माध्यम से किया जाता है तब उसे फसल क्षेत्रीय घट-बढ़ कहते हैं।

(2) क्षेत्रीय परिवर्तन (Spatial Change)—जब दो वर्षों मे फसल अंतर को मापने के लिये किसी एक वर्ष को आधार मानकर परिवर्तन प्रतिशत की गणना की जाती है तब उसे क्षेत्रीय परिवर्तन कहते हैं।

(3) हटाव (Shift)—दो शस्य-प्रारूपों में जो अन्तर होता है उसे हटाव कहते हैं। यह शस्य स्वरूप के बाह्य घट-बढ़ का प्रतीक है।

(4) विचलन (Deviation)—किसी शस्य प्रारूप के अन्तर्गत अनेक फसलों के क्षेत्र के अन्तर को विचलन कहते हैं। इसका प्रयोग एक ही शस्य प्रारूप मे अनेक फसलों के आंतरिक अंतर के लिये किया जाता है।

उपर्युक्त तथ्यों का अध्ययन सांख्यिकीय विधि द्वारा किया जाता है। श्रेणी सह-सम्बन्ध (Rank Correlation) स्पीयरमेन्स गुणांक (Spearman's Coefficient) तथा केन्डल गुणांक (Kandal's Coefficient) के आधार पर विभिन्न शस्य प्रारूपो में तुलना प्रस्तुत की जाती है और विभिन्न शस्य प्रारूपों में पाई जाने वाली असमानता की माप के लिये (tests of significance) की गणना कर ली जाती है।

कृषि प्रादेशीकरण

(कृषि प्रदेश सीमांकन विधियाँ/आधार)

कृषि-जन्य उत्पादन तथा उनकी उत्पादन विधि सम्बन्धी भिन्नताओं का क्षेत्रीय विश्लेषण करना आर्थिक भूगोल का एक दिलचस्प पहलू है। इस प्रकार के अध्ययन से कृषि प्रदेशों की भी जानकारी होती है। क्योंकि कृषि प्रदेश ऐसे विस्तृत क्षेत्र होते हैं जहां कृषि जन्य उत्पादन एवं उनकी उत्पादन विधि में समरूपता मिलने के साथ-साथ कृषि भूमि उपयोग की समान शैली परिलक्षित होती है।

कृषि प्रदेशों का सीमांकन करने के लिये कृषि प्रदेशों का उद्भव विकास और कार्यशीलता को प्रकट करने वाले तत्वों का सहारा लिया जाता है। इन तत्वों को निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है—

भौतिक तत्व—(i) जलवायु, (ii) धरातल की बनावट, (iii) मिट्टी।

मानवीय तत्व—(i) फसलों एवं पशुओं का सह-सम्बन्ध

(ii) कृषि की उत्पादन विधि

(iii) कृषि जन्य उत्पादन के उपयोग का ढंग (निर्वाहक या व्यापारिक)

(iv) कृषि भूमि में श्रम, पूंजी, संगठन आदि के विनियोग की मात्रा एवं खाद बीज, यंत्र की किस्म।

(v) जोत का आकार एवं भू-स्वामित्व की स्थिति (जमींदार या भूमिहीन श्रमिक)।

द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किये गये कृषि प्रदेशो का अध्ययन परम्परागत यानी वर्णनात्मक प्रकार का ही रहा और प्रायः जलवायु प्रदेशों के आधार पर कृषि प्रदेशो का सीमांकन किया जाता रहा। इस प्रकार का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने कृषिजन्य उत्पादन की विविध विशेषताओं पर प्राकृतिक वातावरण (विशेष रूप से जलवायु) के सर्वव्यापी प्रभाव को प्रमुखता दी। इन विद्वानों में ई. हटिंगटन, प्रो. जोनासन, प्रो. ई. बेकर, सी. एफ. जोन्स, एस. वालकेनवर्ग तथा जी. टेलर प्रमुख हैं।

किन्तु धीरे-धीरे यह अनुभव किया जाने लगा कि कृषि प्रदेश के सीमाकन के लिये फसलों की समरूपता से सम्बन्धित भौतिक कारकों के अतिरिक्त उत्पादन विधि कृषि की गहनता, विशिष्टीकरण आदि बातें भी महत्वपूर्ण हैं, जिस कारण एक ही प्राकृतिक वातावरण वाले क्षेत्रों में भी कृषि की विशेषताओं में बहुत भिन्नता मिलती है। जनसख्या का घनत्व, कृषि तकनीक की अवस्था तथा सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक वातावरण आदि कई बातें कृषि को प्रभावित करती है। इस दृष्टि से डी. ह्विटलसी (1936)[1] द्वारा किया गया अध्ययन सर्वप्रथम सामने आया जिसमें कृषि प्रदेशों का सीमाकन निम्नलिखित तत्वों के आधार पर किया गया—

(1) फसलो एवं पशुओं का सह-सम्बन्ध,
(2) भूमि उपयोग क्षमता एवं उत्पादन विधि,
(3) कृषि जन्य उत्पादन के उपयोग का ढंग (निर्वाहक, व्यापारिक)
(4) कृषि कार्य में सहायक यन्त्रो, उपकरणों, आवास आदि सम्बन्धी दशायें।
(5) कृषि में श्रम, पूंजी, संगठन आदि के विनियोग की मात्रा।

ह्विटलसी द्वारा किये गये अध्ययन के बाद विद्वानो ने कृषि प्रदेश सीमांकन मे कृषि सम्बन्धी अनेक विशेषताओ को चुनकर उन सभी चरो के माध्यम से कारक विश्लेषण (Factor analysis) पद्धति की ओर ध्यान देकर सांख्यिकी विधि का अधिकाधिक प्रयोग शुरू कर दिया। इस प्रकार का अध्ययन करने वाले विद्वानो में एन. हेलबर्न,[2] कानइचीकवाची[3] आर. एस. थामन[4] ए. के. रकीतनीकोव[5] जे. ई. स्पेंसर व आर. जे. होवर्थ[6] तथा जे. कोस्ट्रोविकी[7] प्रमुख हैं।

---

1. Whittlesey D (1936) Major Agricultural Regions of the Earth; Annals of the Association of American Geographers, 26, pp. 199—240.
2. Helburn N (1957) The Bases for a Classification of World Agriculture, The Professional Geographer, Vol. 9, pp. 2—7.
3. Kawachi Kan-Echi (1957) On a Method of Classifying World Agricultural Regions, Proceedings of the IGU Regional Confrence in Japan (Tokyo) pp. 355-56,
4. Thaman R. S. (1962) The Geography of Economic Activity, pp 124-237.
5. Rakitnikov, A [illegible] (1962) Economic Geography Research in Agriculture in C. D. Harris, ed, Soviet Geography, Accomplishments and taks, New York, p. 230
6. Spencer, G. F. and Horvath, R. J. (1963) How does an Agricultural Region Originate. Annals of the Association of American Geographers March pp. 74-92.
7. Kostrowski (1972) A Preliminary Attempt [illegible] a Typology of World Agriculture International Geography. 22nd IGU, Montreal, University of Toronto Press PP. 1037-1100, and other various publications by the author.

हेलबर्न द्वारा कृषि प्रदेशों के सीमांकन करने के लिये निम्नलिखित चरों को आधार बनाने पर बल दिया—

(1) फसलों एवं पशुओं का सन्तुलन,
(2) विशिष्टीकरण की मात्रा,
(3) भूमि उपयोग गहनता,
(4) श्रम, पूँजी की सापेक्षिक मात्रा,
(5) व्यापारीकरण का अनुपात,
(6) स्थायी या स्थानान्तरित कृषि,
(7) कृषि प्रदेश का स्तर,
(8) भू-स्वामित्व,
(9) जीवन-स्तर,
(10) भूमि का मूल्य,
(11) उत्पादन की मात्रा एवं मूल्य।

कंवाची ने इस दृष्टि से निम्नलिखित तीन तत्वों को आधार माना—
(1) उत्पादित फसलों की किस्म,
(2) व्यापारीकरण की मात्रा,
(3) तकनीकी क्षमता।

थॉमन ने भी निम्नलिखित तीन तत्वों को आधार बनाया—
(1) फसल किस्म अथवा सम्मिश्रण,
(2) भूमि उपयोग क्षमता,
(3) व्यापारीकरण की मात्रा।

रकीतनीकोव ने कृषि के निम्नलिखित तीन पक्षों को आधार बनाया—
(1) उत्पादित फसलों की रचना,
(2) उत्पादन क्षमता का स्तर,
(3) प्रति क्षेत्र इकाई उत्पादन की मात्रा।

स्पेन्सर तथा होर्वाथ ने कृषि प्रदेशों के उद्भव विकास और कार्यशीलता को प्रभावित करने वाले निम्नलिखित मानवीय कारकों या प्रक्रियाओं के आधार पर कृषि प्रदेश सीमांकन का प्रयास किया—

(1) मनोवैज्ञानिक (2) राजनीतिक
(3) ऐतिहासिक (4) आर्थिक
(5) तकनीकी (6) कृषिगत

कोस्ट्रोविकी द्वारा कृषिगत विशेषताओं से सम्बन्धित अनेक कारकों को आधार मानकर बहुकारक उपागम से कृषि प्रदेश सीमांकन का कार्य करने का

प्रयास किया गया है। इनके द्वारा कृषिगत विशेषताओं को चार प्रमुख भागों में बाँटकर प्रत्येक के उप-विभाग किये गये हैं और इन उप-विभागों की किसी कृषि क्षेत्र में उपस्थिति को पाँच वर्गों में (बहुत कम, कम, मध्यम, अधिक और बहुत अधिक) में रखकर अंकन किया गया है तथा एक सूत्र[1] द्वारा कृषि की विशेषताओं को प्रदर्शित किया गया है।

---

1. सूत्र $T = S\frac{O}{P}C$

जहाँ पर T = Agriculture type; S = Social Attributes; O = Organizational Attributes; P = Productional Attributes; तथा C = Structural Attributes.

Social Attributes—

- Land held by a group of people, tribe, clan,
- Share tenancy.
- Ownership of land.
- Land held by state, cooperatives
- Size of holdings in actively employed people
- Size of holding in terms of agricultural land.
- Size of holding in gross output.

Organizational Attributes—

- Input of human labour.
- Input of animal power.
- Input of mechanical power.
- Chemical fertilizer.
- Irrigation.
- Intensity of crop landuse.
- Intensity of livestock breeding

Productional Attributes—

- Productivity in gross agricultural output.
- Productivity of cultivated land.
- Labour productivity.
- Commercial labour productivity.
- Degree of Commercialization.
- Commercial production of land.
- Land efficiency.

Structural Attributes—

- Perennial crops.
- Permanent grasslands.
- Primary food production.
- General grass production emphasis (orientation).
- General commercial production emphasis [orientation].
- Industrial crops.

उपर्युक्त चरों के आधार पर कोस्ट्रोविकी द्वारा प्रस्तावित कृषि प्रदेश विभाजन निम्नलिखित प्रकार का है—

(A) प्राचीन कृषि—

(1) घने जंगल परती से सम्बन्धित स्थानान्तरणशील कृषि।

(2) झाड़ी प्रदेश के परती भूमि से सम्बन्धित स्थानान्तरणशील कृषि।

(3) चलवासी पशु चारण।

(B) जीवन निर्वाहक कृषि—

(4) नयी परती कृषि।

(5) विस्तृत मिश्रित कृषि,

(6) गहन श्रम वाली असिंचित कृषि,

(7) गहन श्रम वाली सिंचित फलोत्पादक कृषि,

(8) गहन श्रम वाली सिंचित अर्द्ध व्यापारिक कृषि,

(9) गहन श्रम वाली असिंचित अर्द्ध व्यापारिक कृषि,

(10) कम गहन अर्द्ध व्यापारिक कृषि,

(C) लैटिफण्डियम कृषि—

(11) विस्तृत मापक कम गहन अर्द्ध व्यापारिक कृषि,

(D) बाजारोन्मुख कृषि—

(12) गहन मिश्रित कृषि,

(13) पशु-प्रधान गहन कृषि,

(14) फसलोत्पादन के साथ गहन कृषि,

(15) पशुपालन प्रधान विशिष्ट वृहत् मापक कृषि,

(16) बगाती कृषि,

(17) विशिष्ट सिंचित कृषि,

(18) विशिष्ट वृहत मापक चराई कृषि,

(19) विशिष्ट वृहत मापक अन्नोत्पादक कृषि,

(20) मिश्रित कृषि,

(21) विशिष्ट फल तथा सब्जी खेती,

(22) विशिष्ट औद्योगिक फसलोत्पादन कृषि,

(23) विशिष्ट अन्नोत्पादन कृषि,

(24) विशिष्ट चरागाही,

(25) गहन असिंचित फसल प्रधान कृषि,

(26) गहन सिंचित फसल प्रधान कृषि।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कृषि के अध्ययन में भी सैद्धान्तिक विधि का उपयोग करते हुए कई प्रकार से उसकी विशेषतायें ज्ञात करने का प्रयास विद्वानों द्वारा किया जा रहा है।

5. उत्पादन (क्रमशः)

विनिर्माण उद्योग

द्वितीयक व्यवसायों के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के उन उद्योग-धन्धों को लिया जाता है जो मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं से अधिक विकसित है। सामान्य तौर पर उद्योग-धन्धों को उनकी प्रकृति के अनुसार निम्नलिखित वर्गों में रखा जाता है—

(1) निष्कर्षण उद्योग
(2) पुनरुत्पादक उद्योग
(3) वस्तु-विनिर्माण उद्योग
(4) सहायक उद्योग

आर्थिक भूगोल में 'उद्योग' शब्द वस्तु विनिर्माण उद्योग को इंगित करता है। कच्ची सामग्री को शारीरिक या यांत्रिक शक्ति द्वारा परिष्कृत सामग्री का रूप देना वस्तु विनिर्माण उद्योग कहलाता है। जैसे कपास से कपड़ा, गन्ने से चीनी आदि।

पैमाने के अनुसार वस्तु विनिर्माण उद्योग को निम्नलिखित वर्गों में रखा जाता है—

(अ) कुटीर उद्योग (ब) लघु उद्योग (स) भारी उद्योग

आज के औद्योगिक युग में उद्योग का महत्व स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है। उद्योग व्यवसाय में विश्व की 1/5 जनसंख्या लगी हुई है। उद्योग की स्थापना के निम्नलिखित आधार है :—

(1) कच्चा माल
(2) शक्ति
(3) जलवायु
(4) परिवहन के साधन
(5) पूंजी
(6) बाजार
(7) श्रम
(8) व्यवस्था
(9) साहस
(10) सरकारी नीति (शुल्क समझौते, संरक्षण, प्रशिक्षण, न्याय, अनुसंधान आदि।)

उपर्युक्त सभी कारक उद्योगों की अवस्थिति पर प्रभाव डालते हैं किन्तु उद्योग के स्वभाव के अनुसार अधिक महत्व के कारक पर विशेष ध्यान देते हुए अन्य कारकों की उपलब्धि के लिए एक समझौतावादी दृष्टिकोण अपना लिया

जाता है। इस प्रकार भूतल मे विभिन्न स्थानो पर उद्योगों की स्थापना हो जाती है।

आर्थिक-भूगोल के सैद्धान्तिक उपागम मे किसी भी आर्थिक क्रियाकलाप की स्थिति के विषय में पर्याप्त विश्लेषण किया जाता है। किसी भी क्रियाकलाप की स्थिति ही वह प्रमुख तत्व है जिसकी पर उस सफलता-असफलता निर्भर करती है। किसी उद्योग विशेष के स्थानीयकरण में विभिन्न सम्भावित स्थानो मे से किसी एक को चुनने की समस्या उत्पन्न होती है। यदि उद्योगों का स्थानीयकरण विवेकपूर्ण, भौगोलिक विशिष्टीकरण के अनुसार किया जाता है तो प्रत्येक प्रदेश स्थानीय, मानवीय और भौतिक साधनो के अनुरूप उत्पादन कार्य में विशिष्टता प्राप्त करता है और साधनो का सबसे उत्तम उपयोग करके कम लागत पर वस्तुओं का उत्पादन करके उस प्रदेश के प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि करता है। विशिष्ट क्षेत्रों मे कुछ विशिष्ट उद्योगों के आकर्षित होने, विकसित होने, तथा केन्द्रित होने की प्रवृत्ति को उद्योगों के स्थानीयकरण के नाम से सम्बोधित किया जाता है। उद्योगों की अवस्थिति के परम्परागत सिद्धान्तों का मुख्य प्रश्न रहा है—उद्योग कहाँ, अवस्थित हों? और इसका परम्परागत उत्तर रहा—'जहाँ पर वे अधिकतम लाभ प्राप्त कर सकें।'

स्थानीयकरण के सिद्धान्त

उद्योगो के स्थानीयकरण से सम्बन्धित निम्नलिखित सिद्धान्त प्रमुख है—

(1) भार हानि व परिवहन लागत सिद्धात
(2) श्रम अधिकल और परिवहन लागत का सिद्धांत
(3) वेबर का सिद्धात
(4) फैटर का सिद्धात
(5) पलोरेंस का सिद्धांत
(6) हूवर का सिद्धात
(7) स्मिथ का सिद्धांत
(8) इजार्ड का सिद्धांत

1. भार हानि व परिवहन लागत सिद्धांत

निर्माण उद्योग की अवस्थिति को निर्धारित करने में भार हानि तथा परिवहन लागत के सम्बन्ध महत्वपूर्ण होते हैं।

सिद्धान्त का प्रतिपादन—

(अ) किसी निर्माण प्रक्रिया मे जितने अधिक प्रतिशत भार हानि होगी, उतनी ही अधिक उसकी फैक्टरी की प्रवृत्ति कच्चे माल के स्रोत के समीप स्थापित होनेकी होगी। जैसे–तांबे की कच्ची धातु को गला कर साफ करने में 2–10% तक ही तांबा प्राप्त होता हैं। इसलिए तांबा–शोधन फैक्टरी कच्चे माल के स्रोत के समीप ही स्थापित होगी।

(ब) कच्चे माल को फैक्टरी तक लाने में परिवहन लागत और फैक्टरी में पक्का माल बनाने में भार हानि के पश्चात् फैक्टरी से पक्के माल को बाजार तक लाने में परिवहन लागत की तुलना करने पर कुल लागत में जितना अधिक अन्तर होगा, उतनी ही शक्ति से बाजार उस फैक्टरी को अपनी तरफ आकर्षित कर लेगा।

(स) सामान्यतः माल ढोने का भाड़ा दूरी के साथ समान दर से नहीं बढ़ता है बल्कि जैसे-जैसे दूरी ज्यादा होती जाती है, भाड़े की दर कम होती जाती है। इसलिए कच्चे माल के स्रोत तथा बाजार के बीच किसी स्थान को स्पर्धा में असुविधा रहेगी और फैक्टरी की स्थापना या तो कच्चे माल के स्रोत के समीप या बाजार के समीप होगी। परन्तु यदि आन्तरिक भाड़ा दर में कोई रियायत कर दी जाय और भाड़े में कोई विशेष सुविधा दे दी जाय तो फैक्टरी की स्थापना किसी बीच के स्थान पर भी हो सकती है।

2. श्रम प्रविकल तथा परिवहन लागत का सिद्धांत

किसी उत्पादन केन्द्र की अवस्थिति पर मजदूरी की लागत का प्रभाव भी महत्वपूर्ण होता है। इस कारण से यह नियम बताता है कि 'अन्य सभी बातों के समान रहते हुए, एक फैक्टरी की प्रवृत्ति उस क्षेत्र में स्थापित होने की होगी जिसमें इकाई श्रम लागत सबसे कम है चाहे प्रति घण्टा मजदूरी की दरें कुछ भी हो।'

एक मजदूर 3 रु. प्रति घण्टा लेकर उस घण्टे में 60 बल्ब बनाता है जब कि दूसरा मजदूर 2 रु. प्रति घण्टा लेकर 30 बल्ब बनाता है। ऐसी दशा में पहले मजदूर की प्रतिघण्टा मजदूरी की दर अधिक होते हुए भी प्रति बल्ब मजदूरी की लागत कम है।

सिद्धान्त यह है कि अन्य बातें समान रहते हुए किसी क्षेत्र की मजदूरी लागत में जितनी अधिक बचत होती है उतनी ही ज्यादा सरलता के साथ वह क्षेत्र पक्का माल बनाने में अपनी उन असुविधाओं को दूर कर सकता है जो कच्चे माल के स्रोत अथवा बाजार से ज्यादा दूरी होने के कारण,उपस्थित होता है।

3. वैबर का सिद्धांत (Weber's Hypothesis)

उद्योग के स्थानीयकरण का सिद्धान्त व्यापक विवेचन के साथ प्रतिपादित करने का सर्वप्रथम प्रयास अल्फ्रेड वैबर ने किया। वैबर एक जर्मनी अर्थशास्त्री था। उन्होंने उद्योग के स्थानीयकरण का सिद्धान्त सन् 1909 में 'Uber den standort der Industrin' नामक शीर्षक लिखा, जिसका अंग्रेजी अनुवाद 1929 में 'The Theory of Location of Industries' के नाम से प्रकाशित हुआ। इन्होंने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन औद्योगिक स्थानीयकरण के विभिन्न कारकों का पूर्ण अन्वेषण करके उनके आधार पर किया। उनके द्वारा यह ज्ञात किया गया कि लागत के कुछ मूल तत्व अलग-अलग स्थानों समान नहीं होते हैं

जैसे श्रमिकों की मजदूरी, यातायात की लागत आदि। दूसरी ओर लागत के कुछ ऐसे तत्व होते है, जो सभी स्थानो पर लगभग समान होते है जैसे पूंजी पर ब्याज तथा मशीनों का ह्रास। प्रथम वर्ग के लागत तत्वों का ही उद्योग के स्थानीयकरण पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार लागत विश्लेषण के आधार पर उन्होंने स्थानीयकरण के कारकों को दो वर्गों में विभक्त किया है।

औद्योगिक स्थानीयकरण के निर्धारक तत्व

- प्रमुख अथवा क्षेत्रीय कारक
  - परिवहन लागत
    - यातायात किया जाने वाला भार (कच्चा माल)
      - साधारण अथवा सर्वत्र प्राप्य
      - स्थानीय कृत पदार्थ
        - शुद्ध पदार्थ (भार न खोने वाले पदार्थ)
        - मिश्रित पदार्थ (भार खोने वाले पदार्थ)
    - यातायात की दूरी
  - श्रम लागत
    - श्रम लागत निर्देशांक
    - स्थानीयकरण भार
- सहायक कारक
  - केन्द्रीयकरण कारक
  - विकेन्द्रीकरण कारक
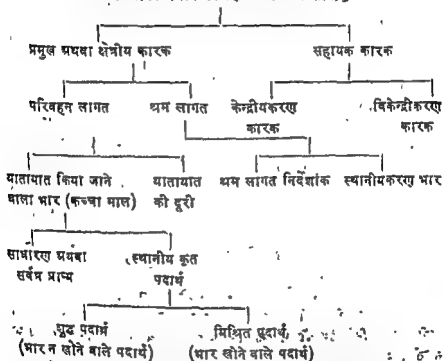
वेबर के उद्योग स्थानीयकरण सिद्धान्त को समझने से पहले उपर्युक्त सारणी में बताए गए विभिन्न शब्दों को, जिनका प्रयोग सिद्धान्त में हुआ है, समझना अति आवश्यक है।

प्रमुख अथवा क्षेत्रीय लागत

इन कारकों ने दो मुख्य लागतो का उल्लेख किया है—

यातायात लागत

कारखानो तक कच्चे माल एवं अन्य आवश्यक साज सामान को लाने तथा निर्मित माल को बाजार तक पहुँचाने में यातायात लागत उत्पन्न होती है। इस लागत के दो तत्व हैं—

(अ) यातायात किया जाने वाला भार—समस्त कच्चे पदार्थ जो कारखाने तक लाए जाते हैं, समान भार अथवा वजन के नहीं होते हैं। वेबर ने इन्हें दो वर्गों में विभक्त किया है।

(i) साधारण अथवा सर्वत्र प्राप्य माल— इन पदार्थों की सभी स्थानों पर प्रचुरता होती है। प्रायः ये सरलता से उपलब्ध हो जाते है।

(ii) स्थानीयकृत पदार्थ—ये पदार्थ कुछ विशिष्ट स्थानों पर ही उपलब्ध होते है। अतः स्थानीयकरण मे इनका निश्चित् एवं निर्धारित प्रभाव पड़ता है। इन्हें भी दो भागों मे विभाजित किया गया है—

शुद्ध पदार्थ—इनमें ऐसे पदार्थ शामिल होते हैं जिनका भार विनिर्माण-प्रक्रिया मे विशेष कम नही होता। जैसे, कपास।

मिश्रित अथवा सकल पदार्थ—इन्हे भार खोने वाले पदार्थ भी कहा जाता है क्योंकि विनिर्माण प्रक्रिया मे इनका वजन घट जाता है। जैसे गन्ना, कच्चा लोहा।

(ब) यातायात की दूरी—यदि कच्चे माल की प्राप्ति के क्षेत्र तथा बाजार या विक्रय केन्द्र एक सीधी रेखा के दो सिरो पर स्थित है तो शुद्ध पदार्थों की दशा मे परिवहन की दूरी का अधिक महत्व नही होगा क्योंकि ऐसे पदार्थों की प्रवृत्ति 'भार न खोने वाली' होती है किन्तु यदि मिश्रित पदार्थों का प्रश्न है तो परिवहन दूरी का निश्चित् रूप से प्रभाव पड़ेगा क्योंकि ऐसे पदार्थों की प्रकृति भार खोने वाली होती है। ऐसी दशा मे औद्योगिक इकाइयों की स्थापना कच्चे माल की प्राप्ति के केन्द्रो के निकट ही की जायेगी ताकि परिवहन की लागत को न्यूनतम किया जा सके।

पदार्थ निर्देशांक—पदार्थ निर्देशांक उत्पादित वस्तुएं व कच्ची सामग्री के वजन के अनुपात का द्योतक है। वेबर ने पदार्थ निर्देशांक की गणना करके यह प्रमाणित किया कि पदार्थ निर्देशांक जितना कम होगा, उस उद्योग विशेष के स्थानीयकरण की प्रवृत्ति भी उतनी ही अधिक बाजार केन्द्रों की ओर आकर्षित होने की होगी। पदार्थ निर्देशांक की गणना निम्नलिखित सूत्र के आधार पर की जा सकती है :

$$\text{पदार्थ निर्देशांक} = \frac{\text{कच्चे माल का भार}}{\text{निर्मित माल का भार}}$$

इसमें शुद्ध पदार्थों के लिए पदार्थ निर्देशांक 1 होगा तथा मिश्रित पदार्थों के लिए पदार्थ निर्देशांक 1 से अधिक होगा।

2. श्रम लागत

विभिन्न क्षेत्रो मे श्रम लागत असमान होती है। सस्ता श्रम कुछ क्षेत्रों में गतिशील होता है तथा वह प्रायः गतिशील नही होता अतः यदि श्रम लागत किसी उद्योग की कुल लागत मे महत्वपूर्ण है तो ऐसे उद्योग का स्थानीयकरण सस्ते श्रम केन्द्रों के निकट ही होगा किन्तु ऐसा तभी होगा जब निम्नलिखित दो शर्तें पूरी होती हों—

(I) श्रम की गतिशीलता शून्य या बहुत कम हो।

(2) सस्ते श्रम केन्द्रों में उद्योग के स्थानीयकरण की दशा में श्रम लागतों में होने वाली बचत की मात्रा यातायात लागतो मे होने वाली वृद्धि की तुलना मे अधिक हो।

श्रम लागत निर्देशांक

निर्मित माल के कुल भार मे श्रम लागत के अनुपात को श्रम लागत निर्देशांक कहते है—

स्थानीयकरण भार—उत्पादन की सम्पूर्ण प्रक्रिया में यातायात किए जाने वाले कुल भार को स्थानीयकरण भार कहते है।

श्रम गुणक

उद्योग के यातायात स्थानीयकरण से श्रम स्थानीयकरण की ओर होने वाले विचलनों को श्रम गुणक के द्वारा मापा जाता है। श्रम गुणक वह अनुपात है जो एक ओर श्रम लागत तथा दूसरी ओर स्थानीयकरण भार के मध्य होता है। यदि श्रम गुणक अधिक है तो यह श्रम स्थानीयकरण को प्रोत्साहित करेगा। यदि श्रम गुणक कम है और पदार्थ निर्देशांक अधिक है तो ऐसी दशा में यातायात स्थानीयकरण अधिक प्रबल होगा।

आइसोडापेन—यह बराबर परिवहन लागत बिन्दुओं को दर्शाने वाली रेखा है।

मान्यताएँ—अपने सिद्धांत के प्रतिपादन में वेबर ने निम्न मान्यताओं का सहारा लिया—

(1) जिस देश में कारखाने की स्थापना करनी है, वह स्वतन्त्र इकाई है। उसमें एक सी जलवायु, तकनीक, समान जाति संस्कृति है।

(2) कच्ची सामग्री के स्रोत मालूम हैं तथा उनकी स्थिति का पूरा ज्ञान है।

(3) बाजार के स्थान अर्थात् उपभोग के स्थान भी पूर्णरूपेण ज्ञात है। बाजार एक-दूसरे से पृथक बिन्दु के रूप में ही है।

(4) श्रम निश्चित प्रदेशों मे उपलब्ध है। ऐसे कई स्थान मिलते है जहाँ श्रम निश्चित पूर्व निर्धारित मजदूरी पर जितनी संख्या में चाहे उपलब्ध है।

(5) प्राकृतिक संसाधन जैसे—पानी सर्वत्र सुलभ है। जबकि कोयला व लोहा आदि कुछ सीमित क्षेत्रों में ही उपलब्ध है।

(6) परिवहन लागत दूरी व भार के अनुपात मे बढ़ती है। उद्योग अव-स्थिति के सम्भावित स्थान—

उद्योगों की प्रकृति एव उनमे होने वाले उत्पादन के अनुसार उनकी आव-श्यकता अलग-अलग प्रकार की होती है। उद्योग में प्रयुक्त होने वाले कच्चे माल की संख्या एक या एक से अधिक हो सकती है। जिसका प्रभाव उद्योगों की अवस्थिति पर पड़ता है। अतः विभिन्न स्थितियों मे उद्योग—अवस्थिति पर विचार किया गया है—

(य) एक बाजार व एक कच्चा माल प्राप्ति स्थान—

परिवहन लागत वक्र रेखा

बाजार कच्चा माल प्राप्ति स्थान
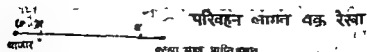
सामान्य अवस्थिति समस्या : एक बाजार व एक कच्चा माल प्राप्ति स्थान

चित्र संख्या 5 : 1

(1) यदि कच्ची सामग्री सर्वत्र सुलभ है तो उद्योग बाजार में स्थापित होगा। जैसे बर्फ का कारखाना।

(2) यदि कच्ची सामग्री शुद्ध तथा स्थानीय है तो कच्ची सामग्री के स्रोत या बाजार बिन्दु अथवा इन दोनों के बीच किसी बिन्दु पर भी स्थापना हो सकती है। जैसे वस्त्र उद्योग।

(3) यदि शुद्ध पदार्थ एवं सर्वत्र सुलभ पदार्थ दोनों का उपयोग होता है तो उद्योग बाजार बिन्दु पर होगा।

(4) यदि मिश्रित पदार्थ का उपयोग होता है तो उद्योग की स्थापना कच्ची सामग्री के स्रोत पर होगी जैसे—चीनी की मिल व लुगदी उद्योग।

(ब) दो कच्ची सामग्री स्रोत तथा एक बाजार बिन्दु

वेबर ने दूसरी कल्पना उस दशा से की है जिसमें दो कच्ची सामग्री की आवश्यकता पड़ती है और वे दो स्रोतों से प्राप्त होती है किन्तु इस स्थिति के लिए बाजार बिन्दु एक ही है।

(1) ऐसी स्थिति में कारखाने की स्थापना अधिकतम मिश्रित भार वाले कच्ची सामग्री के स्रोत पर होगी।

ईंधन [1 टन प्रति टन उत्पादन] — 10 मील — कच्चा माल [2 टन प्रति टन उत्पादन]

बाजार

दो कच्चे माल व एक बाजार की स्थिति के समय उद्योग की स्थापना

चित्र संख्या 5 : 2

बाजार पर स्थापना :

ईंधन व्यय = 3 × 6 = 18 टन/मील

कच्चा माल व्यय = 8 × 2 = 16 टन/मील

कुल यातायात व्यय = 34 टन/मील

ईंधन स्थान पर स्थापना :

कच्चा माल व्यय = $10 \times 2 = 20$ टन/मील
बाजार पहुँचाने पर व्यय = $6 \times 1 = 6$ टन/मील
कुल परिवहन व्यय = 26 टन/मील

कच्चे माल प्राप्ति पर स्थापना :

ईंधन व्यय = $10 \times 3 = 30$ टन/मील
बाजार पहुँचाने पर व्यय = $8 \times 1 = 8$ टन/मील
कुल परिवहन व्यय = 38 टन/मील

ग्रतः उद्योग की स्थापना ईंधन प्राप्ति स्थान पर होगी।

(2) यदि कच्ची सामग्री सर्वत्र सुलभ है तो कारखाना बाजार बिन्दु पर स्थापित होगा।

(3) यदि कच्ची सामग्री सर्वत्र सुलभ है तो भी उद्योग की स्थापना बाजार बिन्दु पर ही होगी।

(स) दो से अधिक कच्चे माल प्राप्ति स्थान व एक बाजार

इस प्रकार की स्थिति में उद्योग की स्थापना इन सब के बीच में कहीं होगी। यह निम्नलिखित बहुभुज ग्रारेख से स्पष्ट हो जायेगा। इस बहुभुज में यह दिखाया गया है कि जिस ओर भार अधिक होगा, खिंचाव भी उसी ओर अधिक होगा। परिणामस्वरूप उद्योग की स्थापना भी उसी ओर होगी अर्थात् मिश्रित पदार्थ के प्राप्ति स्थान के निकट ही उद्योग स्थापित होगा।
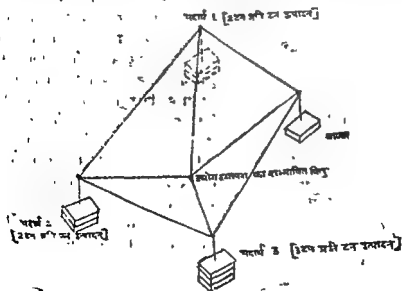
विभिन्न बिन्दुओं में स्थानीयकरण की समस्या का समाधान

चित्र 5.3

आइसोडापेन तथा निर्णायक आइसोडपेन (Isodopen)

उद्योगों की अवस्थिति के आरेखीय प्रदर्शन में आइसोडापेन का चित्रण अत्यन्त उपयोगी है। वेबर परिवहन खर्च के साथ के साथ ही साथ श्रम तथा एकत्रीकरण को भी उद्योग के स्थानीयकरण में महत्वपूर्ण मानते है। इन दोनों का प्रभाव उन्होंने आइसोडापेन की सहायता से दर्शाया है। वेबर यह मानते है कि श्रम कुछ निश्चित स्थानों पर मिलता है। तथा श्रम का खर्च स्थान-स्थान पर अलग-अलग होता है अतः श्रम का खर्च कम करने के लिए कारखाने की स्थापना उस बिन्दु से हटकर भी हो सकती है जो परिवहन की दृष्टि से सर्वोत्तम हो। परिवहन व्यय की दृष्टि से सर्वोत्तम बिन्दु से हटने पर जिन बिन्दुओं पर परिवहन व्यय में इकाई वृद्धि होती है उनको मिलाने वाली रेखाएं भी आइसोडापेन कही गई हैं।

यह माना गया है कि म बिंदु पर कच्ची सामग्री उपलब्ध है। उत्पादित वस्तु की खपत न बिंदु पर होती है। यह भी मान लिया गया है कि प्रति इकाई उत्पादित वस्तु के उसके दुगने वजन की कच्ची सामग्री की आवश्यकता होती है इस स्थिति में म बिंदु पर ही उद्योग की स्थापना होगी। म बिन्दु को केन्द्र मानकर खींचे गए वृत्त कच्ची सामग्री का परिवहन खर्च बताते हैं। जबकि न बिन्दु को केन्द्र मानकर खींचे गए वृत्त उत्पादित वस्तु के परिवहन खर्च को बताते हैं। चूंकि कच्ची सामग्री का परिवहन खर्च उत्पादित वस्तु के परिवहन खर्च की अपेक्षा दुगना होगा अतः न बिन्दु से खींचे गए समकेन्द्रीय वृत्त दुगने अन्तर पर दिखाए गए हैं। वेबर के अनुसार इस स्थिति में उद्योग की स्थापना म बिन्दु पर होगी जहां का परिवहन खर्च 5 है। अब मान लो कि उद्योग की स्थापना म बिन्दु पर न होकर ब बिन्दु पर होती है तो न से ब तक परिवहन खर्च उत्पादित वस्तु पर 5 है। म से ब तक कच्ची सामग्री का परिवहन खर्च 2 इकाई है कुल $5+2=7$ होगा जो म बिन्दु पर कारखाना स्थापित होने वाली स्थिति से 2 इकाई है। उसी पर अ स द ई फ ज ह सभी ऐसे बिन्दु हैं जहां उद्योग स्थापित करने पर म बिन्दु पर स्थापित करने की तुलना में 2 इकाई अतिरिक्त व्यय करना होगा। अतः इन बिन्दुओं को मिलाने वाली रेखा को आइसोडापेन कहते हैं जिसका मान 2 है। यदि इस आइसोडापेन पर स्थित किसी भी बिन्दु पर उद्योग स्थापित करने में श्रम के खर्च में 2 इकाई बचत होती है तो इन आइसोडापेन से आवृत्त किसी भी बिन्दु पर कारखाना स्थापित किया जा सकता है इसके बाहर कारखाना स्थापित करने में हानि होगी। इसे निर्णायक आइसोडापेन कहते है।
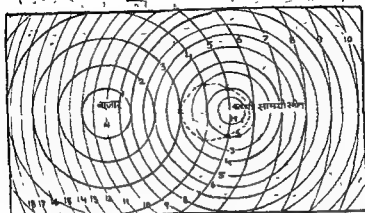
आइसोडापेन [ISODAPANE] और उद्योग की अवस्थिति

चित्र संख्या 5 : 4

स्थानीयकरण के सहायक कारक

(अ) एकत्रीकरण की प्रवृत्ति—किसी उद्योग के किसी स्थान या क्षेत्र विशेष मे केन्द्रीयकृत हो जाने से उस क्षेत्र को उत्पादन के कुछ लाभ प्राप्त हो जाते है जिससे उत्पादन लागतें कम होती है। जिन उद्योगों का उत्पादन लागत में निर्माण व्यय का अनुपात अधिक होता है उनमें केन्द्रीयकरण की प्रवृति पायी जाती है। यह दो कारको पर निर्भर करती है। उत्पादन निर्देशाक व स्थायीकरण भार। उत्पादन निर्देशाक व स्थायीकरण भार इन दोनों के सापेक्षिक सम्बन्ध के आधार पर श्री वेबर ने निर्माणगुणक ज्ञात किया। स्थानीयकरण भार मे निर्माण लागत के अनुपात को निर्माण गुणक कहते है। निर्माण गुणक अधिक होने पर औद्योगिक केन्द्रीयकरण अधिक होता है। वेबर ने जिस प्रकार कारखाने की स्थापना में श्रम का प्रभाव दर्शाया है उसी प्रकार एकत्रीकरण के प्रभाव को भी स्वीकार किया है उनके अनुसार केन्द्रीकरण तीन प्रकार के होते है :—

(1) कारखाने के विस्तार से जिनके कारण बड़े पैमाने पर उत्पादन लाभ उपलब्ध है।

(2) एक ही उद्योग के कई कारखाने एक स्थान पर स्थापित होने से जिसके कारण सामान्य तकनीक व उत्पादित वस्तु के विक्रय सम्बन्धी सुविधाएं प्राप्त होती हैं।

(3) विभिन्न प्रकार के उद्योग एक स्थान पर स्थापित होने के कारण उद्योगो के लिए सामान्य सुविधाएं जैसे परिवहन के साधन उपलब्ध होते हैं।
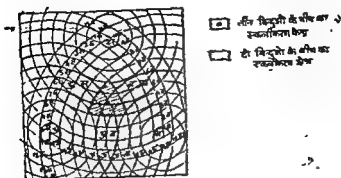
तीन बिन्दुओं पर स्थित उद्योगों का स्कन्त्रीकरण स्थल

चित्र 5.5

चित्र में तीन स्थानीयकरण त्रिभुज है। प्रत्येक में एक ऐसा बिन्दु है जो परिवहन के दृष्टिकोण से सर्वोत्तम है। इन बिन्दुओं को केन्द्र मानकर तीन आइसोडापेन खींचे गए है जिनमें से प्रत्येक का मान 6 है।
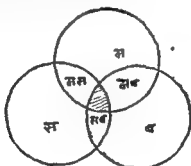
सम्भावित स्कन्त्रीकरण का क्षेत्र

चित्र 5.6

इस स्थिति में कारखाने की स्थापना सर्वोत्तम बिन्दुओं से हटकर उस क्षेत्र में किसी बिन्दु पर हो सकती है जो 6 मान वाले तीन आइसोडापेन के बीच पड़ता हो बशर्ते कि एकत्रीकरण से उत्पादन लाभ 6 इकाई परिवहन खर्च के बराबर अथवा इससे अधिक हो।
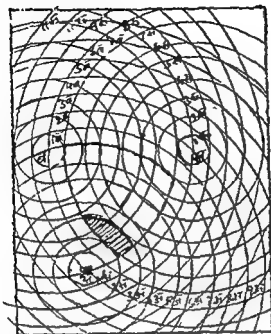
शक्तिशाली केन्द्र द्वारा एकत्रीकरण स्थल को अपनी ओर आकर्षित करने की स्थिति

चित्र 5.7

यदि फैक्टरी अ ब स एकत्रीकरण के कारण अपने न्यूनतम लागत से 5 इकाई अधिक बचाना चाहती है तो ये त्रिभुज 1 में स्थापित होना चाहेंगी। यदि यह बचत 7 इकाई हो तो फर्मों को त्रिभुज 2 में स्थापित करना पड़ेगा। यदि फैक्टरी अ की श्रम शक्ति अधिक है तो वह ब तथा स दोनों को त्रिभुज 2 में अपने निकट आकर्षित कर लेगी। यदि अ स्थान स से अधिक शक्तिशाली है तो एकत्रीकरण 4 पर खिसक जायेगा, जहां ब 6 इकाई, स 7 इकाई और अ 3 इकाई के मान पर रहेगा।

(ब) विकेन्द्रीकरण की प्रकृति

जब केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति बहुत अधिक प्रबल हो जाती है तो स्थान विशेष पर केन्द्रीयकरण के कारण प्राप्त होने वाले लाभों में कमी होती चली जाती है। क्योंकि अत्यधिक केन्द्रीयकरण के कारण अनेक प्रकार के स्थानीय करों में वृद्धि हो जाती है। भूमि मूल्य में वृद्धि हो जाती है, श्रम महंगा हो जाता है अतः नई इकाईयों की स्थापना केन्द्रीयकृत क्षेत्र से हटकर अन्य क्षेत्रों में होने लगती है।

उद्योग स्थापना के उपर्युक्त विवेचन के बाद वेबर ने निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले हैं—

(1) किसी भी उद्योग के स्थानीयकरण में परिवहन खर्च के सामान्य स्तर का प्रभाव नहीं बल्कि विभिन्न स्थानों के सापेक्षिक परिवहन खर्च का ही प्रभाव पड़ता है।

(2) उद्योग, उस कच्ची सामग्री की ओर आकर्षित होता जो है मिश्रित पदार्थ युक्त है। उद्योग की स्थापना में विभिन्न प्रकार के कच्चे माल के सन्दर्भ में उनकी विशेषता द्वारा ही स्थानीयकरण सम्भव है।

(3) किसी स्थानीय त्रिभुज के अन्तर्गत उद्योग की स्थापना कच्ची सामग्री के सापेक्षिक भार पर निर्भर है, कारखाना उस कच्ची सामग्री के स्रोत के निकट स्थापित होगा, जिसका सापेक्षिक भार अधिक है।

(4) उद्योग की स्थापना उन लागत बिन्दुओं से हटकर भी हो सकती है। जहाँ कि श्रम लागत या केन्द्रीयकरण के कारण लाभ प्राप्त हो रहा हो या अन्य सुविधाएँ प्राप्त हो रही हों।

वेबर के सिद्धांत की आलोचना

(1) वेबर का सम्पूर्ण विश्लेषण कच्ची सामग्री स्रोत एवं बाजार केन्द्र को मिश्रित बिन्दु मानकर हुआ है जबकि कृषिगत एवं वन्य उत्पादन सम्बन्धी कच्ची सामग्री तथा उत्पादित वस्तु का क्षेत्रीय विस्तार होता है।

(2) वेबर ने परिवहन लागत पर ध्यान दिया है। उत्पादन प्रक्रिया लागत पर नहीं।

(3) वेबर के अनुसार परिवहन लागत में दूरी व भार के अनुपात में वृद्धि होती है। जबकि वास्तव में दूरी के अनुपात में परिवहन भाड़ा घटता है।

(4) वेबर का विश्लेषण पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत हुआ है। अतः ये न्यूनतम लागत बिन्दु को ही अधिकतम लाभ बिन्दु समझते है। जो उचित नहीं है। क्योंकि कई बार न्यूनतम लागत के बाद भी कई अन्य खर्च बढ़ जाते हैं।

(5) स्थानीयकरण के अन्य कारणों जैसे—जलवायु की अनुकूलता पूँजी एवं शक्ति के साधनों की उपलब्धि आदि की अवहेलना की गई है।

(6) परिवहन लागत की अपूर्ण विवेचना की है। यातायात के साधन, धरातल की संरचना आदि सम्मिलित नहीं किए।

(7) वेबर ने न्यूनतम लागत को ही सर्वाधिक लाभ का बिन्दु बताया है। परन्तु वे यह भूल गए कि उपभोग केन्द्र स्थिर नहीं होते हैं।

(8) श्रम लागतों के सम्बन्ध में भी दोषपूर्ण मान्यताएँ प्रतिपादित की हैं।

कुछ संशोधनों के साथ वेबर के सिद्धान्त को अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है। प्रथम यातायात लागतों में भार तथा दूरी के स्थान पर परिवहन के

विभिन्न साधनों की भाड़ा दर तालिकाओं का प्रयोग अधिक उत्तम रहेगा। यह मानकर चलना होगा कि श्रम प्रवासी प्रवृत्ति का होता है। अतः स्थायी श्रम केन्द्र नहीं हो सकते और न सस्ते श्रम की असीमित पूर्ति किसी क्षेत्र में हो सकती है। उपभोग केन्द्रों को विस्तृत अर्थों में मानना होगा।

उपरोक्त विश्लेषण के पश्चात् हम कह सकते है कि वेबर का सिद्धान्त उद्योग के स्थानीयकरण के क्रमबद्ध विश्लेषण की दिशा में महत्वपूर्ण कदम था।

फैटर का सिद्धान्त (Fetter's Law) [बाजार प्रतिस्पर्धा सिद्धान्त]

न्यूनतम परिवहन लागत सिद्धान्त की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि इसमें बाजार पक्ष अर्थात् माँग की क्षेत्रीय विभिन्नता की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। इसके अन्तर्गत उद्योग के स्थानीयकरण का विवेचन यह मानकर किया गया कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति व्याप्त है जिसमें किसी भी स्थान पर स्थापित होने से उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तु की माँग में अर्थात् उसके विक्रय आयतन में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। अतएव न्यूनतम लागत वाला स्थान ही अधिकतम लाभ का स्थल है। इसलिए इस विश्लेषण में लागत की क्षेत्रीय भिन्नता पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है।

वास्तविक जगत में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति काल्पनिक अथवा आदर्श मात्र है क्योंकि विभिन्न कारणों से उत्पादित वस्तु की माँग सर्वत्र एक-सी नहीं रहती। यदि माँग की क्षेत्रीय भिन्नता पर ध्यान दिया जाय तो न्यूनतम लागत वाला स्थल आवश्यक नहीं कि अधिकतम लाभ का स्थल हो। किसी अन्य स्थल पर जहाँ लागत अपेक्षाकृत अधिक हो परन्तु साथ ही वहाँ से विस्तृत बाजार क्षेत्र पर कारखाने का एकाधिपत्य हो सके, लाभ अपेक्षाकृत अधिक होगा। इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए उद्योग के स्थानीयकरण का बाजार प्रतिस्पर्धा सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ जिसमें उद्योग की स्थापना के लिए ऐसा स्थल ढूँढने की चेष्टा की जाती है जहाँ से उपलब्ध बाजार क्षेत्र के अधिकाधिक अंश पर कारखाने का एकाधिकार हो सके। इसलिए इस सिद्धान्त को स्थानीयकरण अन्योन्याश्रित सिद्धान्त भी कहते है। 1924 में फैटर द्वारा यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया जिसमें माँग की क्षेत्रीय भिन्नता की ओर भी ध्यान दिया गया।

फैटर का सिद्धान्त दो व्यापारिक केन्द्रों के व्यापारिक क्षेत्रों के बीच सीमा निर्धारण से सम्बन्धित है। इस सिद्धान्त के अनुसार—

(1) यदि उत्पादन लागत तथा परिवहन लागत दो केन्द्रों के चारों ओर समरूप है तो उन उद्योगों के बाजारों के मध्य की रेखा एक सरल रेखा होगी जो दोनों बाजारों को मिलाने वाली रेखा पर समकोण होती है।
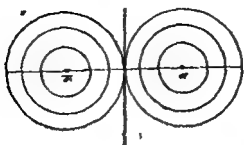
चित्र 5.8

(2) यदि उत्पादन लागत असमान होती है तो उन उद्योगों के बाजारों की सीमा अधिक उत्पादन लागत के केन्द्र के समीप तथा उसकी ओर झुकी हुई होती है।

चित्र 5'9

(3) यदि उत्पादन लागत एक समान हो तो अधिक परिवहन लागत एक स्थान पर अधिक हो तो बाजारो की सीमा रेखा अधिक परिवहन लागत के केन्द्र के समीप तथा उनकी ओर झुकी हुई होती है।

चित्र 5.10

इस सिद्धान्त द्वारा कारखाने की बाजार प्रतिद्वन्द्विता की मात्रा प्रकट होती है। इस सिद्धान्त को 1929 में होटलिंग ने और पुष्टि प्रदान की। इन्होंने इस सिद्धान्त की व्याख्या के लिए एक सरल उदाहरण समुद्र तट पर आइसक्रीम विक्रेताओं की स्थिति के सहारे प्रस्तुत किया। यदि मांग की लोच नगण्य हो

अर्थात् किसी भी कीमत पर क्रेता निर्धारित अवधि में वस्तु विशेष की निश्चित् इकाई को खरीदने को तत्पर रहते है। जैसे समुद्रतट पर धूप सेवन करने वाले प्रति घण्टे एक आइसक्रीम खरीदते है। सर्वप्रथम एक विक्रेता 'क' बाजार के केन्द्र में स्थापित होगा। जहाँ से सम्पूर्ण बाजार में वस्तु विक्रय सरलता से कर सकेगा अब यदि दूसरा विक्रेता 'ख' भी प्रकट होता है तो वह बाजार के कम से कम आधे भाग पर आधिपत्य चाहेगा और इसके लिए वह भी बाजार के केन्द्र मे 'अ' से सटे स्थापित होगा ताकि बाजार के एक ओर अर्ध-भाग में अधिकार कर सके यदि वह 'अ' से दूर स्थापित होता है तो उसका बाजार के आधे से कम पर ही अधिकार हो सकेगा।
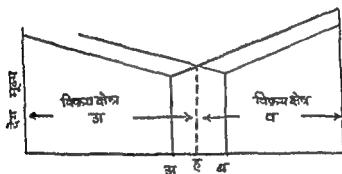
चित्र : 5.11

इसी सिद्धान्त को 1953 में चैलेण्डर ने आगे बढ़ाया। उन्होंने इस प्रश्न पर विचार किया कि प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति ज्ञात होने पर बाजार का आवटन किस प्रकार होगा। इस प्रकार फैटर के सिद्धान्त को विस्तार से प्रस्तुत किया। न्यूनतम लागत तथा स्थानीयकरण अन्योन्याश्रित सिद्धान्तों के समन्वय का प्रयास 1956 में ग्रीनहट ने किया। इन्होंने यह बताया कि स्थानीयकरण सिद्धान्त इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि विभिन्न उद्योगों के स्थानीयकरण में विभिन्न कारण महत्वपूर्ण क्यों होते हैं। स्थानीयकरण सम्बन्धी महत्वपूर्ण कारकों को निम्न वर्गों मे प्रस्तुत किया।

(1) स्थानीयकरण के लागत तत्व।
(2) स्थानीयकरण का मांग सम्बन्धी तत्व।
(3) लागत कम करने वाले तत्व।
(4) मांग अर्थात् आय में वृद्धि करने वाले तत्व।
(5) लागत कम करने वाले व्यक्तिगत तत्व।
(6) आय वृद्धि सम्बन्धी व्यक्तिगत तत्व।
(7) अत्यन्त व्यक्तिगत तत्व।

फ्लोरेन्स का सिद्धान्त (Florence's Law)
[औद्योगिक स्थानीयकरण सिद्धान्त]—

इनका सिद्धान्त वेबर से विपरीत आगमनात्मक विश्लेषणात्मक पद्धति पर आधारित है। इन्होंने इस प्रचलित अर्थ को नहीं माना है कि 'स्थानीयकरण किसी उद्योग एवं भौगोलिक क्षेत्र के मध्य सम्बन्ध है। उनके अनुसार किसी उद्योग का किसी क्षेत्र से सम्बन्ध उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि देश की समस्त श्रमिक जनसंख्या के वितरण से किसी उद्योग का सम्बन्ध महत्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त से व्यावसायिक गणना तथा उत्पादन गणना से प्राप्त प्रतिशतों के आधार पर स्थानीयकरण की प्रवृत्ति के लिए दो मापकों का प्रयोग किया है। वे हैं स्थानीयकरण भाज्य, स्थानीयकरण गुणांक

स्थानीयकरण भाज्य

सूत्र

$$\text{स्था} = \frac{\text{अ} \times 100}{\text{ब}} = \frac{\text{अ} \times 100}{\text{ब}} \times \frac{\text{द}}{\text{स} \times 100}$$

$$\frac{\text{स} \times 100}{\text{द}}$$

स्था = स्थानीयकरण भाज्य
अ = किसी विशेष उद्योग म विशेष क्षेत्र में श्रमिकों की संख्या
ब = समस्त देश में विशेष उद्योग में श्रमिकों की संख्या
स = किसी विशेष क्षेत्र में कुल औद्योगिक श्रमिक शक्ति
द = समस्त देशों में कुल औद्योगिक श्रमिक शक्ति

इससे निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(1) यदि किसी उद्योग के लिए विभिन्न क्षेत्रों का स्थानीयकरण भाज्य इकाई या इससे निकट है तो यह इस बात का परिचायक है कि वह उद्योग देश के विभिन्न क्षेत्रों में समान रूप से विभाजित है।

(2) किसी क्षेत्र विशेष के लिए यदि स्थानीयकरण भाज्य इकाई से अधिक है तो यह उस क्षेत्र में उस उद्योग के स्थानीयकरण की अधिक मात्रा का द्योतक होगा।

(3) यदि किसी क्षेत्र में यह भाज्य इकाई से कम है तो यह इस बात का परिचायक है कि उस क्षेत्र में उस उद्योग का स्थानीयकरण कम है।

(4) यदि किसी क्षेत्र के लिए भाज्य शून्य है तो उस क्षेत्र में उस उद्योग विशेष के सर्वथा अभाव का सूचक होगा।

स्थानीयकरण गुणांक

इसे ज्ञात करने के लिए निम्न प्रक्रिया है।

(1) प्रत्येक क्षेत्र में देश के सम्पूर्ण श्रमिकों की संख्या का प्रतिशत

(2) प्रत्येक क्षेत्र में किसी उद्योग विशेष में कार्यरत श्रमिकों की संख्या का प्रतिशत।

सार्जेन्ट फलोरेन्स द्वारा ज्ञात किए गए सांख्यकीय भाज्यों एवं गुणाकों की औद्योगिक स्थानीयकरण की विवेचना तथा विश्लेषण मे उपयोगिता है।

ई.एम. हूवर का न्यूनतम लागत सिद्धान्त
(Hoovers Low of Minimum cost)

ई. एम. हूवर द्वारा अपनी पुस्तक 'The Location of Economic Activity' 1948 में वेबर के न्यूनतम परिवहन लागत सिद्धान्त का परिष्कार करके न्यूनतम लागत सिद्धान्त रखा गया। हूवर के अनुसार–किसी भी उद्योग में तीन प्रकार की लागत होती है।

(1) कच्ची सामग्री एकत्र करने की लागत
(2) उत्पादन प्रक्रिया की लागत
(3) उत्पादित वस्तु को बाजार तक पहुँचाने की लागत

इस प्रकार उद्योग की लागत वस्तुतः दो तरह की होती है—(1) परिवहन लागत (2) उत्पादन प्रक्रिया लागत।

इन दोनों लागतों का योग जहां न्यूनतम होगा वहां उद्योग की स्थापना होगी।

परिवहन लागत का प्रभाव

कुल परिवहन लागत को न्यूनतम करने के लिए उद्योग को ऐसे स्थान पर स्थापित करना पड़ेगा जहाँ (1) कच्ची सामग्री एकत्र करने में न्यूनतम परिवहन लागत (2) उत्पादित वस्तु को बाजार में पहुँचाने का न्यूनतम खर्च।

(1) एक कच्ची सामग्री तथा एक उत्पादित वस्तु—यदि यह मान लिया जाय कि किसी उद्योग में एक ही कच्ची सामग्री का उपयोग होता है, जो किसी निश्चित स्त्रोत से प्राप्त है और बाजार बिन्दु भी एक ही है। अतः न्यूनतम परिवहन लागत निम्नलिखित प्रकार से निर्धारित करेंगे—

चित्र : 5.12

उपरोक्त चित्र में दूरी बढ़ने के साथ परिवहन खर्च लगातार नहीं बढ़ता है बल्कि कई चरणों में बढ़ता है। उद्योग की स्थापना अ तथा ब वक्र के बीच किसी भी बिन्दु पर नहीं होगी क्योंकि ये दोनों रेखाएँ विभिन्न ढ़ास वाली हैं। इसलिए ये दोनों छोर पर अपेक्षाकृत कम खर्च को दर्शाती है। अतः उद्योग की स्थापना कच्ची सामग्री स्रोत अथवा बाजार बिन्दु इन दोनों में से कहीं पर होगी।
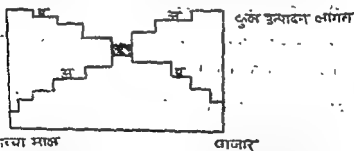
चित्र : 5.13

(2) यदि कच्ची सामग्री ऐसी है जिसका परिवहन व्यय उसके वजन के मुकाबले अधिक होता है। जैसे—जल्दी नष्ट होने वाली वस्तुएँ-विस्फोटक पदार्थ।

(3) कुछ स्थलों में परिवहन एक छोर से दूसरे छोर तक एक ही माध्यम से नहीं होता और अलग-अलग माध्यमों की दरें भी एक ही नहीं होती। साथ ही माल को उतारने व लादने सम्बन्धी व्यय भी होते है।

(4) कुछ स्थितियों में कच्चे माल का यातायात मार्ग के बीच कहीं पर उत्पादन प्रक्रिया से गुजारने पर भी परिवहन व्यय में बढ़ोतरी नहीं होती।

परिवहन मूल्य की संरचना

यह मुख्य रूप से दो प्रकार के होते है—

(1) रख-रखाव लागत—इसमें वेयर हाउस व रख-रखाव आदि की कीमत सम्मिलित है तथा यह दूरी के आधार पर स्थिर होती है।

(2) परिचालन लागत—यह वह कीमत है जो वाहक द्वारा तनख्वाह, ईंधन आदि के रूप में बढ़ा दी जाती है।

परिवहन लागत तथा परिचालन दूरी

इसमें दूरी बढ़ने के साथ प्रति टन कीमत कम होती है अतः यातायात कीमत वक्र का ढाल दूरी के साथ धीमा होता जाता है।
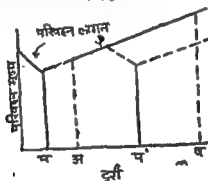
चित्र : 5.14

'प' बिन्दु जो उत्पत्ति स्त्रोत से 56 कि.मी. दूर है, पर रेल यातायात सस्ता रहेगा तथा इससे पहले सड़क तथा 608 कि.मी. की दूरी पार कर लेने पर जल यातायात सस्ता रहेगा जो 'अ' बिन्दु पर हैं। जहां पर यातायात माध्यम में प्रतिद्वन्द्विता होती है वहां पर ली जाने वाली दर में अन्तर किया जा सकता है। जहां पर प्रतियोगिता होती है, वहां पर दर कम तथा जहां अन्य माध्यम न हो, वहां दरों में वृद्धि करके उनको पूरा किया जा सकता है।

उत्पादन लागत

उत्पादन प्रक्रिया लागत के भी कई तथ्य होते हैं जैसे—श्रम, पूंजी, भूमि घर, तकनीक आदि। विभिन्न उद्योगों में इनकी मात्रा के उपयोग के आधार पर उन्हें निम्नलिखित वर्गों में रख सकते हैं—

(1) कच्चा माल प्रधान उद्योग—जिनमें पर्याप्त मात्रा में भारी किन्तु कम मूल्यवान अथवा शीघ्र नष्ट होने वाले कच्चे माल की आवश्यकता पड़ती है। जैसे-सीमेन्ट उद्योग।

(2) बाजार प्रधान उद्योग—अधिक भार वाली, शीघ्र नष्ट होने वाली वितरण में अधिक व्यय वाली या अधिक दैनिक माँग वाली कच्ची सामग्री से सम्बन्धित उद्योग बाजार के निकट लगेंगे।

(3) शक्ति प्रधान उद्योग—उत्पादन प्रक्रिया में लागत का अधिकांश यदि शक्ति पर व्यय होता हो तो ऐसे उद्योग शक्ति के स्त्रोत के निकट स्थापित होंगे। जैसे—खाद, रासायनिक उद्योग, बिजली से सम्बन्धित उद्योग।

(4) श्रम प्रधान उद्योग—कुशल व सस्ते श्रमिकों की अधिक आवश्यकता वाले उद्योग घनी जनसंख्या या बड़े नगरों के समीप स्थापित होंगे। जैसे—चाय उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग आदि।

(5) पूँजी प्रधान उद्योग—अविकसित तथा विकासशील देशों में बड़े उद्योगों की स्थापना पर पूँजीपतियों वाले क्षेत्र का प्रभाव होता है।

कच्चे माल प्राप्ति स्थान पर उद्योग की स्थापना

कच्चे माल प्राप्ति स्थान पर उद्योग की स्थापना

चित्र : 5.15
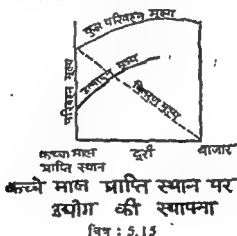
चित्र में वितरण कीमत के वक्र की अपेक्षा उत्पादन मूल्य वक्र अधिक तीव्र है क्योंकि कच्चे माल में भार की कमी होती है। इसी कारण कुल यातायात कीमत वक्र को कच्चे माल पर नीचा दिखाया गया है इस स्थिति में उद्योग की स्थापना कच्चे माल पर होगी।

बाजार पर उद्योग की स्थापना—कुछ उद्योग जिनमें उत्पादन प्रक्रिया में भार में वृद्धि होती है, वे बाजार पर स्थित होते हैं। इस चित्र में कुल यातायात

कीमत वक्ररेखा बाजार पर भुकी हुई है। अतः वह उद्योग की स्थापना के लिए सर्वोत्तम स्थिति है।

चित्र · 5.16→

बाजार पर उद्योग की स्थापना

बन्दरगाह की स्थिति मे या जहा पर यातायात का माध्यम बदलता है। परिवहन बिन्दु पर उत्पादन व वितरण मूल्य वक्र एकदम ऊपर उठते है।

←चित्र : 5.17

मूल्य निर्धारण पद्धति

यह पद्धति जिसके द्वारा माल के वितरण की यातायात कीमत नापी जाती है। इसकी तीन नीतियां हैं—

1. फ्री ऑन बोर्ड केन्द्र नीति
2. उत्पादन–यातायात मूल्य नीति
3. समान वितरण मूल्य नीति

1. फ्री ऑन बोर्ड केन्द्र नीति—इसमें वितरण कीमत उत्पादन कीमत व यातायात कीमत के योग के बराबर होती है। परिवहन व्यय दूरी से प्रभावित रहता है अतः उपभोक्ता कारखाने कच्चे माल के पास होगे। चित्र में 'अ' उपभोक्ता 'प' कारखाने से 'ब' उपभोक्ता की अपेक्षा कम वितरण की कीमत पर सामग्री प्राप्त करता है।

चित्र : 5.18→
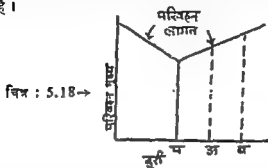
2. उत्पादन-यातायात मूल्य नीति—इसमें वितरण कीमत को पहले से ही निश्चित उत्पादन कीमत में आधार बिन्दु के यातायात लागत को जोड़कर निकालते हैं। इस प्रकार के तरीके में उन उपभोक्ताओं को लाभ होता है जो कि आधार बिन्दु के निकट होते है। प आधार बिन्दु है और प। दूसरा है जिसमे 'अ' तथा 'ब' उपभोक्ता है। अतः 'ब' 'अ' की अपेक्षा प के अधिक निकट है।

चित्र : 5.19 →
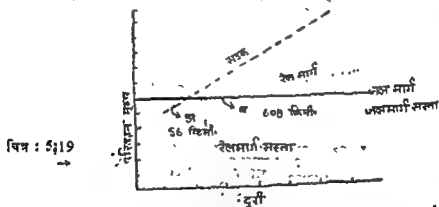
यातायात के विभिन्न माध्यमों द्वारा होनेवाले परिवहन व्यय में भिन्नता की तुलना

3. समान वितरण मूल्य नीति:— किसी क्षेत्र या सम्पूर्ण देश में समान कीमत निश्चित करना। जब कीमत सर्वत्र समान होगी, ग्राहक दूरी से प्रभावित नहीं होगा।
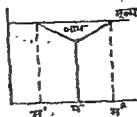
[अ] उद्योग स्थापना की अनुकूलतम स्थिति

चित्र : 5.20→
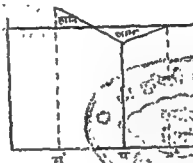
[ब] उद्योग स्थापना की प्रतिकूल स्थिति

उद्योग के लिए आवश्यक तत्वों की लागत की प्रादेशिक भिन्नताएँ प्रभावित करती है। अतः कई बार उपर्युक्त तत्वों के मात्रा के अनुपात मे घट–बढ़ कर ली जाती है। पूर्ण प्रतियोगिता में विभिन्न उत्पादन तत्वों के उपयोग की आदर्श स्थिति यह होती है जिसमे प्रत्येक उत्पादन तत्व का सीमान्त उत्पादन उसकी कीमत के अनुपात में बराबर हो। निर्माण लागत को कम करने की कुछ विधियाँ हैं—

(1) बृहद उत्पादन

(2) अधिक भण्डारण

(3) थोक क्रय विक्रय

(4) यन्त्रीकरण और श्रम लागत

(5) लाभकारी स्थिति।

इस दृष्टि से उद्योगो की भौगोलिक पारस्परिकता आवश्यक है। अर्थात् इस उद्योग से सम्बन्धित अन्य उद्योग समीप हो इन उद्योगों के बीच सम्बन्ध परस्पर भिन्न प्रकार के होते हैं।

(1) सम्बत अन्तर्सम्बन्ध—यदि किसी उद्योग के उत्पादन के कई शृ खला-बद्ध चरणो मे से प्रत्येक चरण पर उत्पादन विभिन्न कारखानों में होता है तो इन कारखानों के अन्तर्सम्बन्ध को सम्बद्ध अन्तर्सम्बन्ध कहते है। जैसे—धातु-निर्माण उद्योग में धातु परिष्कार, धातु पिघलाना, पिघले धातु को ढालना आदि।

(2) क्षैतिज अन्तर्सम्बन्ध—यदि किसी वस्तु के निर्माण में आवश्यक विभिन्न का निर्माण अलग-अलग कारखानों में होता है तो अन्ततः इन्हें एकत्रित करके मुख्य वस्तु का निर्माण होता है। इसे क्षैतिज अन्तर्सम्बन्ध कहते हैं। जैसे—रेडियो निर्माण उद्योग, घड़ी उद्योग आदि।

(3) कर्णवत अन्तर्सम्बन्ध—कोई एक उद्योग ऐसी वस्तु या सेवा की सुविधा प्रदान करे जो लम्बवत् व क्षैतिज अन्तर्सम्बन्ध वाले सभी कारखानों द्वारा चाही जाती है। जैसे टेलीफोन, वर्कशॉप, बिजली का सामान आदि।

उद्योगों के परस्पर सम्बन्ध

चित्र : 5.21

अतः न्यूनतम उत्पादन प्रक्रिया लागत की दृष्टि से उद्योग की स्थापना के लिए सर्वोत्तम स्थान का चुनाव, उस उद्योग की उत्पादन सम्बन्धी विशेषताओं पर निर्भर करता है।

स्मिथ का क्षेत्र लागत वक्र सिद्धान्त (Smith's Area-Cost Curve Law)

डी.एम. स्मिथ ने उद्योग के स्थानीयकरण हेतु नवीन तकनीकी को जन्म दिया। इसे 'क्षेत्रीय लागत वक्र रेखा सिद्धान्त' कहते हैं। यह कच्चे माल व उत्पादित पदार्थ मूल्य के उद्योग की स्थापना पर प्रभाव के रूपों को स्पष्ट करता है।

स्मिथ की विधि का आधार वेबर की आइसोडापेन हैं। वेबर की आइसोडापेन समान परिवहन लागत रेखा है। स्मिथ ने इसके आधार पर दो कार्य किए—प्रथम समान परिवहन रेखा को प्रत्येक वितरण बिन्दु व प्रत्येक बाजार बिन्दु के चारों ओर अंकित होगा।
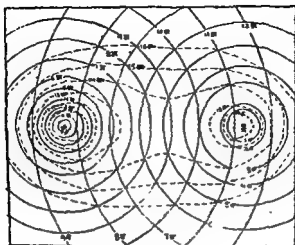
परिवहन लागत तल

चित्र : 5.22

केवल दो बिन्दु काम में लिए परन्तु कोई भी संख्या संयुक्त की जा सकती है। यदि सभी दिशाओं में गति समान है तो परिवहन रेखा संकेन्द्रीय वृत्तों द्वारा प्रकट होगी। द्वितीय परिवहन रेखा को काटने वाली कुल परिवहन मूल्य का योग किया तथा बराबर मूल्य बिन्दुओं को मिलाया। जो रेखा इन बिन्दुओं को मिलाती है, उसे आइसोडापेन कहते हैं। उदाहरण के लिए पदार्थ स्त्रोत के चारों ओर का $ 7 का बिन्दु व बाजार के चारों ओर के $ 8 isotim कुल परिवहन मूल्य $ 15 पर एक दूसरे को काटती है। यही योग बिन्दु $ 9 व $ 6 आइसोटिम (isotim) के कटाव बिन्दु पर मिलता है। इस तरह $ 15 आइसोडापेन की स्थिति का निर्धारण हुआ। यह प्रक्रिया सभी सम-समय रेखाओं (isotim) पर जब तक की जाय, जब तक कुल परिवहन मूल्य धरातल ज्ञात न हो जाय। न्यूनतम परिवहन मूल्य बिन्दु धरातल पर निम्नतम बिन्दु है। प्रस्तुत उदाहरण में यह पदार्थ स्त्रोत 'अ' पर है।

स्मिथ के अनुसार—आइसोडापेन सामान्य रूप से लागत सम-मान रेखा कही जा सकती है। यह समान मूल्य रेखा है। इस लागत सम-मान रेखा के द्वारा स्मिथ ने दो मुख्य निष्कर्ष निकाले हैं—

लागत वक्र रेखा—यह एक मूल्य समोच्च रेखाओं का सामान्य पार्श्व खण्ड
वक्र का निम्नतम बिन्दु न्यूनतम लागत स्थिति का परिचायक है जो अधिक स्थानीय
भार के है। वे तीव्र ढाल वाले तथा जो कम भार के हैं, मंद ढाल वाले हैं।
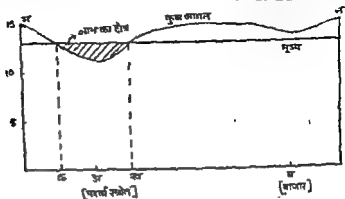
क्षेत्र-लागत वक्र रेखा

चित्र : 5.23

(ब) लाभ की स्थानिक सीमा

स्मिथ ने दूसरी धारणा भी क्षेत्रीय लागत वक्र रेखा से ही विकसित की
सरलता हेतु यह माना गया है कि निमित उत्पादन एक ही मूल्य पर बेचा जाता
है। कुल मूल्य धरातल के कुछ बिन्दुओं पर मूल्य isopkeths द्वारा चित्रित एक
समोच्च रेखा होगी, जो इस मूल्य के समान होगी। यह मॉडल में लाभ की स्थानिक
सीमा को प्रदर्शित करेगी। यह चित्र X Y है। सीमा के अन्दर लाभ व उसके
बाहर हानि होगी। वेबर का न्यूनतम मूल्य बिन्दु इस विश्लेषण द्वारा अधिक
सजीव हो गया है कि परिवर्तित पेटी में वह बिन्दु जहां दिए हुए मूल्य पर लाभ
मिलेगा, एक क्षेत्र में फैला है। इस क्षेत्र में स्थित अधिकतम लाभ वाले बिन्दु पर
उद्योग स्थापित करने में चूक हो जाने पर भी उद्योगपति अपना उद्योग चला सकता
है। इस क्षेत्र के अन्तर्गत कई अन्य कारक नये स्थानों को जन्म दे सकते है। इस
प्रकार वास्तविक जगत में पाई जाने वाली दशाओं के आधार पर अवस्थिति
सम्बन्धी छूट का दायरा बढ़ जाता है। यद्यपि स्मिथ ने वेबर के मौलिक सिद्धान्त
में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं किया। परन्तु उसने सिद्धान्त को विश्लेषणात्मक
शक्ति प्रदान की।

इसार्ड का सिद्धान्त (Issard's Law)

इसार्ड महोदय ने वेबर सिद्धान्त के तर्क का पुट देकर उसे व्यवस्थित कर
उसके विषय क्षेत्र व सार्वभौमिकता में वृद्धि की। इन्होंने इसे अधिक शक्ति सम्पन्न

बनाया। इजार्ड के सिद्धान्त को समझने के लिए फिर वही एक बाजार व एक कच्चा माल की समस्या की कल्पना करनी पड़ेगी। यह कच्चा शुद्ध माल है। इस अवस्थिति में दो कारक हैं—(1) बाजार से दूरी व (2) कच्चे माल स्रोत से दूरी। यह सम्बन्ध निम्नलिखित ग्राफ से स्पष्ट है—

द्विबिन्दु अवस्थिति समस्या के लिए परिवर्तन रेखा

चित्र : 5.24

इस ग्राफ में रूपान्तरण रेखा (Transformation Line) द्वारा दोनों कारकों में सभी सम्भावित सम्बन्ध स्पष्ट होता है। उदाहरण के लिए 'अ' पर स्थित 6 परिवहन निवेश (inputs) पदार्थ पर 'ब' एक परिवहन input उत्पादित पदार्थ पर उत्पन्न करती है। यदि यह स्थिति 2 पर स्थानान्तरित हो जाय, तब उत्पादक उत्पादित पदार्थ पर परिवहन निवेश को आवश्यक पदार्थ पर परिवहन निवेश मे बदल देगा।

द्वितीय पदार्थ का परिचय जटिलता उत्पन्न करता है क्योंकि यहां प्रतिस्थापन (Subsituation) सम्बन्ध के तीन समूह हैं। तीनों में से रूपान्तरण रेखा निकाली जा सकती है—

(1) बाजार से सभी दूरियों के लिए पदार्थ 'अ' से पदार्थ 'ब' तक दूरी कारक के मध्य एक रूपान्तरण रेखा होगी।

(2) पदार्थ 'अ' से सभी दूरियो के लिए, बाजार से दूरी कारकों व पदार्थ 'ब' के बीच रेखा होगी।

तीन बिन्दु अवस्थिति समस्या के लिए परिवर्तन रेखा

चित्र : 5.25

सर्वोत्तम अवस्थिति को खोजने के लिए तीनों स्थितियों में सर्वोत्तम लागत बिन्दु ढूँढना पड़ेगा। मारेल 'अ' जिसमें बाजार से निश्चित 3 दूरी इकाई मानी गई है। मारेल 'ब' पदार्थ 'अ' से पदार्थ 'ब' तक कारक दूरी की रूपान्तरण रेखा प्रकट करता है जो कि 'अ द' वक्र रेखा द्वारा दर्शाई गई है। इस उदाहरण में यह मान लिया गया है कि स्थानीयकरण इन चारों अ ब स द में से किसी स्थान पर होगा क्योंकि केवल ये ही वे बिन्दु हैं जहाँ पर पदार्थ व बाजार के बीच सीधा परिवहन मार्ग है। सर्वोत्तम स्थिति वही होगी है जो पदार्थ अ व ब दोनों पर न्यूनतम परिवहन व्यय करे। यह माना गया है कि प्रत्येक पदार्थ की मात्रा बराबर है और परिवहन दर दूरी के समान व समानुपाती है। तब समलागत रेखा (iso-outlay line) T V Y W X Y द्वारा दिखाई गई है। समलागत रेखा वह रेखा है जो कि एक ही मूल्य के है। सर्वोत्तम स्थिति रूपान्तरण रेखा पर वह बिन्दु है जो निम्नलिखित सम्भावित समलागत रेखा पर होता है। यहाँ पर वह स्थिति II है। यह बिन्दु आंशिक सन्तुलन की स्थिति को दर्शाता है जो कि बाजार से आंशिक सन्तुलन की स्थिति उत्पन्न करता है।

औद्योगिक प्रादेशीकरण एवं औद्योगीकरण की माप

औद्योगिक प्रदेश से तात्पर्य—उद्योगों के स्थानीयकरण के फलस्वरूप किसी क्षेत्र में औद्योगिक भू-दृश्य परिलक्षित होने लगता है। यह औद्योगिक भू-दृश्य धीरे-धीरे विकसित होकर एक औद्योगिक प्रदेश की संरचना कर देता है। औद्योगिक प्रदेश ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ विभिन्न शृंखलाबद्ध उद्योगों के कारखाने स्थित हों। एक औद्योगिक प्रदेश में निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं—

(4) औद्योगिक संरचना एवं उत्पादन की किस्म अर्थात् उत्पादक वस्तुओं या उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन।

(5) प्रदेश की अर्थ-व्यवस्था में उद्योगों की भूमिका।

विभिन्न प्रकार के आंकड़े एकत्रित करने के बाद मानचित्रात्मक विधि से इनके प्रदर्शन की परम्परागत प्रथा भौगोलिक अध्ययनों की विशेषता तो है ही, वर्तमान समय में सांख्यिकीय विधियों द्वारा भी इनका विश्लेषण किया जाता है। इस हेतु कई प्रकार के सूचकांक व मापक तत्वों का उपयोग किया जाता है। जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

(1) केन्द्रीयकरण का स्तर (Degree of Concentration)

उद्योगों का विभिन्न क्षेत्र में वितरण दिखाने के लिये इस प्रकार की गणना की जाती है। इसके अन्तर्गत किसी उद्योग में लगे हुए लोगों की संख्या तथा उस क्षेत्र की कुल जनसंख्या का अनुपात निकाला जाता है। यह क्रिया हर क्षेत्र या प्रदेश के लिए की जाती है और फिर सभी क्षेत्रों या प्रदेशों के लिए प्राप्त अनुपातों के क्रमानुसार लिख लिया जाता है। फिर इन अनुपातों के क्रम में लिखे गये क्षेत्रों या प्रदेशों से उस उद्योग विशेष में लगे हुए व्यक्तियों की कुल संख्या को तब तक जोड़ा जाता है, जब तक कि योग अध्ययन किये जाने वाले सभी क्षेत्रों या प्रदेशों में उस उद्योग विशेष में लगे हुए व्यक्तियों की कुल जनसंख्या का 50% न हो जाय तत्पश्चात् उन क्षेत्रों या प्रदेशों की कुल जनसंख्या ज्ञात की जाती है। जिनमें उस उद्योग विशेष में लगे हुए कुल व्यक्तियों की संख्या जोड़ी गई थी। इसके बाद यह ज्ञात किया जाता है कि उन क्षेत्रों या प्रदेशों की कुल जनसंख्या देश की कुल जनसंख्या का कितना प्रतिशत है। इस प्रतिशत को 100 में से घटा लिया जाता है और इस प्रकार जो संख्या प्राप्त होती है उसे केन्द्रीयकरण का सूचकांक कहते हैं।

(2) स्थानीयकरण लब्धि (Location Quocient)

स्थानीयकरणलब्धि किसी प्रदेश विशेष में किसी उद्योग विशेष के सापेक्षिक केन्द्रीयकरण का द्योतक है। इससे यह पता चलता है कि किसी प्रदेश विशेष में किसी उद्योग विशेष का परिमाण उसके समुचित हिस्से से कम या अधिक है। यह एक अनुपातों का अनुपात है। स्थानीयकरणलब्धि द्वारा किसी प्रदेश विशेष में स्थित किसी उद्योग विशेष के प्रतिशत की तुलना उस उद्योग विशेष की किसी मौलिक सम्पूर्ण राशि (Basic Aggregate) के प्रतिशत से की जाती है। अतः इसमें दो आंकड़ों की आवश्यकता पड़ती है—

(1) किसी प्रदेश विशेष में किसी भी मानक तत्व के आधार पर किसी उद्योग विशेष का कितना प्रतिशत स्थित है तथा

(2) उसी प्रदेश में उसी मापक तत्व के आधार पर देश के सम्पूर्ण उद्योग का कितना प्रतिशत है।

उपर्युक्त दोनों आंकड़ो के अनुपात को ही स्थानीयकरण लब्धि (Location Quotient, कहते है। यद्यपि इसके लिये किसी भी मापक तत्व का उपयोग किया जा सकता है। उद्योग मे लगे लोगो की संख्या का सामान्यतः उपयोग होता है क्योंकि इससे सम्बन्धित आंकड़े अधिक सुलभ है।

स्थानीयकरण लब्धि से निष्कर्ष निम्नलिखित प्रकार से निकाले जाते है—

(1) यदि स्थानीयकरण लब्धि एक आता है तो इसका तात्पर्य यह है कि उस क्षेत्र का औद्योगीकरण सम्पूर्ण प्रदेश के समान है।
(2) यदि स्थानीयकरण लब्धि एक से अधिक आता है तो इसका तात्पर्य यह है कि उस क्षेत्र का औद्योगीकरण सम्पूर्ण प्रदेश की तुलना में अधिक है।
(3) यदि स्थानीयकरण लब्धि एक से कम आता है तो इसका तात्पर्य यह है कि उस क्षेत्र का औद्योगीकरण सम्पूर्ण प्रदेश की तुलना में कम है।

एक उदाहरण द्वारा इसे आसानी से समझा जा सकता है। हम राजस्थान मे जिला स्तर पर औद्योगिक श्रमिको का स्थानीयकरण लब्धि निकालना चाहते हैं। 1971 के आंकड़े निम्नलिखित प्रकार से है—

राजस्थान मे कुल श्रमिको की संख्या—805,000
राजस्थान में औद्योगिक श्रमिकों की संख्या—257,000

जिलो मे कुल श्रमिकों की संख्या		औद्योगिक श्रमिकों की संख्या
गंगानगर	402,000	15,000
बीकानेर	16,5000	65,000
जैसलमेर	53,000	582

गणना करने पर—

राजस्थान के कुल श्रमिकों में औद्योगिक श्रमिकों का प्रतिशत = 3·20
गंगानगर के कुल श्रमिकों में औद्योगिक श्रमिकों का प्रतिशत = 3·75
बीकानेर के कुल श्रमिकों मे औद्योगिक श्रमिकों का प्रतिशत = 3·91
जैसलमेर के कुल श्रमिकों में औद्योगिक श्रमिको का प्रतिशत = 1·10

जिलों के लिए स्थानीयकरण लब्धि—

$$\text{गंगानगर} \quad \frac{3.75}{3.20} = 1.17$$

$$\text{बीकानेर} \quad \frac{3.41}{3.20} = 1.22$$

$$\text{जैसलमेर} \quad \frac{1.10}{3.20} = 0.34$$

निष्कर्ष—

गंगानगर और बीकानेर में औद्योगीकरण राज्य की तुलना में अधिक है किन्तु जैसलमेर में बहुत कम है।

(3) स्थानीयकरण का गुणांक (Localization Coefficient)

जैसाकि पहले बताया जा चुका है कि स्थानीयकरण लब्धि किसी उद्योग के केन्द्रीयकरण की स्थिति किसी प्रदेश के दृष्टिकोण से बतलाता है। देश के विभिन्न प्रदेशों में उद्योग विशेष के सापेक्षिक केन्द्रीयकरण को ज्ञात करने के लिये स्थानीयकरण का गुणांक निकालना आवश्यक होता है इसको निम्नलिखित विधि से निकाला जाता है—

(1) प्रत्येक प्रदेश के लिये स्थानीयकरण लब्धि के लिए व्यवहृत आंकड़ों के अंश में से हर को घटा लिया जाता है।

(2) सभी धनात्मक अथवा ऋणात्मक अन्तरों को जोड़ लिया जाता है।

(3) योग को 100 से विभाजित कर देते हैं।

भागफल 0 से 1 के बीच में आता है। यदि उद्योग विशेष पूर्णतः एक ही प्रदेश में केन्द्रित होगा तो स्थानीयकरण का गुणांक 1 होगा। यदि उद्योग सभी प्रदेशों मे समान वितरित हो तो स्थानीयकरण का गुणांक 0 होगा।

(5) स्थानीयकरण-वक्र (Localization Curve)

स्थानीयकरण का गुणांक निकालने के लिये व्यवहृत आंकड़ो से ही स्थानीयकरण वक्र भी बनाया जा सकता है। इसके लिये पहले विभिन्न प्रदेशो को उनके स्थानीयकरण लब्धि के क्रम में अर्थात् सबसे अधिक स्थानीयकरण लब्धि वाले प्रदेश को सबसे पहले तथा सबसे कम लब्धि वाले प्रदेश को सबसे अन्त में रखते हैं। प्रत्येक प्रदेश के अंश वाले आंकड़ों को लम्बवत् रेखा पर तथा हर वाले आंकड़ो को क्षैतिज रेखा पर क्रमानुसार संचयी प्रतिशत (Cumulative percentage) के आधार पर दर्शाते हैं। सभी प्रदेशों के क्रमशः लम्बवत् तथा क्षैतिज मान

वाले मिलन बिन्दुओं को रेखा द्वारा मिला दिया जाता है। इसी रेखा (वक्र) को स्थानीयकरण वक्र कहते हैं। यदि यह रेखा सामान्य रेखा (कर्ण) से मिली हुई हो तो इसका अर्थ यह है कि उद्योग विशेष का सभी प्रदेशों में समान वितरण है। यह रेखा सामान्य रेखा (कर्ण) से जितनी ही दूर बांयी तरफ होगी, उतना ही उद्योग विशेष का किसी प्रदेश विशेष में केन्द्रीयकरण होगा।
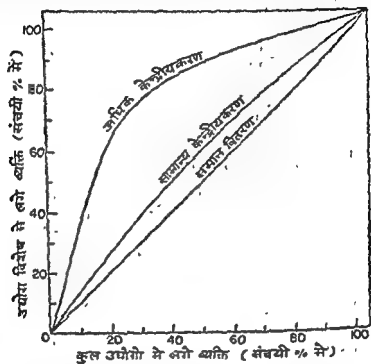
चित्र : 5.26

(6) विशेषीकरण का गुणांक (Coefficient of Specialization)

किसी प्रदेश विशेष की औद्योगिक संरचना के अध्ययन के लिये अधिक महत्वपूर्ण संकेत विशेषीकरण के गुणांक से मिलता है। इससे यह पता लगता है कि किसी प्रदेश में विभिन्न उद्योग समान मात्रा में केन्द्रित है अथवा किसी एक ही उद्योग की प्रधानता है। इसको निकालने की विधि भी वही है जो स्थानीयकरण का गुणांक निकालने की है। परन्तु इसमें स्थानीयकरण लब्धि के दूसरे ढंग के अंश तथा हर के आंकड़ों का उपयोग करना आवश्यक है। इसके लिये अंश का आंकड़ा यह व्यक्त करता है कि प्रदेश विशेष में कुल उद्योग में लगे लोगों की संख्या का कितना प्रतिशत उद्योग विशेष में है तथा हर यह व्यक्त करता है कि देश में कुल उद्योग में लगे लोगों की संख्या का कितना प्रतिशत उद्योग विशेष में लगा है। (स्थानीयकरण लब्धि का उदाहरण देखिये)।

इस आँकड़े को प्राप्त करने के बाद स्थानीयकरण का गुणांक निकालने की बताई गई विधि के अनुसार ही अंश में से हर को घटाकर सभी धनात्मक/ऋणात्मक अन्तरों को जोड़कर योग में 100 का भाग देने से विशेषीकरण का गुणांक निकल जायेगा। यदि यह गुणांक 1 है तो इसका अर्थ है कि प्रदेश विशेष में किसी एक ही उद्योग की प्रधानता है, यदि यह शून्य है तो इसका तात्पर्य है कि उस प्रदेश में सभी उद्योग विद्यमान है।

इसके पश्चात् जिस प्रकार स्थानीयकरण वक्र खींचा जाता है, उसी प्रकार विशेषीकरण वक्र भी खींचा जा सकता है। इसे औद्योगिक विविधता वक्र भी कहते हैं।

उपर्युक्त सभी सांख्यिकीय विश्लेषणों का उद्देश्य औद्योगिक प्रदेशों का सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन करना होता है। इन विश्लेषणों से हमें यह ज्ञात हो जाता है कि अध्ययन किये जाने वाले क्षेत्र में विभिन्न उद्योगों की केन्द्रीयकरण सीमा, क्षेत्र का अन्य औद्योगिक क्षेत्रों की तुलना में सापेक्षिक महत्व, क्षेत्र में उद्योगों की विविधता या एक ही उद्योग की प्रधानता, विविध उद्योगों की दृष्टि से औद्योगिक संरचना लघु, मध्यम या बड़े उद्योग या उपभोक्ता, उत्पादक उद्योग, आदि तथा क्षेत्र की अर्थ-व्यवस्था में उद्योगों की भूमिका आदि किस प्रकार की है।

□□□

6. व्यापार

(Trade)

तृतीयक व्यवसायों में व्यापार का प्रमुख स्थान है। माँग व पूर्ति के असन्तुलन के परिणामस्वरूप ही व्यापार का जन्म होता है। एक ओर तकनीकी विकास के कारण अत्यधिक उत्पादन होने से तथा दूसरी ओर कम विकास व बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण निरन्तर माँग होने से व्यापार मे वृद्धि हुई है। माँग व पूर्ति का यह असन्तुलन मानवीय सांस्कृतिक व प्राकृतिक वातावरण की भिन्नता के कारण होता है। मानव के लिए मूलभूत पदार्थों की अनिवार्यता के कारण उनकी माँग स्वाभाविक है। ये पदार्थ धरातल पर समान रूप से वितरित नहीं हैं। अतः अधिकता वाले स्थानों से कमी वाले स्थानों की ओर इनकी अदला-बदली होती है। अभी भी सब क्षेत्रों में मानव प्रकृति प्रदत्त सुविधाओं (संसाधनों) का पूर्ण विदोहन एवं अपनी आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन नहीं कर पाया है। सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य की आवश्यकतायें भी निरन्तर बढ़ती जा रही है। अतः इनकी पूर्ति व्यापार द्वारा ही की जाती है। अधिक विस्तृत विवरण प्रस्तुत करने की अपेक्षा यहाँ पर यह कहना पर्याप्त होगा कि प्रत्येक देश की आवश्यकतायें अब इतनी बढ़ गई हैं कि उनकी पूर्ति वह स्वयं नहीं कर पाता है और इस हेतु उसे अन्य देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। इस तरह विश्व का प्रत्येक राष्ट्र एक दूसरे पर निर्भर हो गया है। व्यापार के भी, तकनीकी दृष्टि से समृद्ध देशों व कम विकसित देशों दोनों में, अलग-अलग स्वरूप हैं। आदिम समाज में और निर्वाहक कृषि वाले परम्परागत समाज में व्यापारिक क्रिया-कलापों का फैलाव सामान्य सा रहता है, किन्तु उद्योग-प्रधान अर्थ-व्यवस्था में विनिमय और व्यापार का महत्वपूर्ण स्थान है। उत्पादन में वृद्धि करने के लिए श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण के फलस्वरूप भी व्यापार बढ़ता जाता है। विनिमय एवं व्यापार के लिए किसी क्षेत्र में कुछ केन्द्रों की स्थापना हो जाती है। क्षेत्र का आर्थिक विकास होने एवं जनसंख्या में वृद्धि के साथ इन केन्द्रों के आकार तथा संख्या में भी वृद्धि हो जाती है। इन केन्द्रों का अध्ययन प्रायः केन्द्रीय स्थानों के रूप में किया जाता है।

केन्द्रीय स्थान या बाजार केन्द्र

केन्द्रीय स्थान से तात्पर्य एक ऐसे केन्द्र से है जहाँ पर विविध प्रकार की मानवीय गतिविधियाँ अपने आस-पास के क्षेत्र को सेवायें संचालित होती रहती हैं।

यह विभिन्न क्षेत्रों में निवास करने वाली जनसंख्या का मिलन केन्द्र भी होता है जहाँ उसे अपनी आवश्यकता के अनुसार वस्तुओं और सेवाओं की उपलब्धि होती है। नगरीय बस्तियाँ इसी प्रकार के केन्द्रीय स्थान होती हैं। प्रत्येक नगर अपने चारों ओर के देहात से गहरा सम्बन्ध रखता है। नगर जिस क्षेत्र में स्थित है वह उस क्षेत्र की, अपनी कुछ विशेष कार्यों द्वारा, सेवा करता है और बदले में उस क्षेत्र की सेवायें प्राप्त करता है। वास्तव में, यह आदान-प्रदान व्यापार का ही एक रूप है। क्योंकि उस केन्द्र का प्रमुख उद्देश्य अपने समीपवर्ती क्षेत्रों को सेवायें तथा माल प्रदान करना होता है। इस प्रकार उस स्थान की केन्द्रीयता उसके किन्हीं आन्तरिक गुणों के कारण न होकर उस स्थान पर कुछ कार्यों के अवस्थित हो जाने के कारण होती है। सीधे-सादे शब्दों में यह उस स्थान पर होने वाला व्यापार है। इस केन्द्रीय स्थान के क्रम में ही विभिन्न विद्वानों ने उसके अर्थ, प्रकृति, आकार हेतु सिद्धान्त प्रतिपादित किये है।

केन्द्रीय स्थान सिद्धान्त (Central Place Theory)

केन्द्रीय स्थान सिद्धान्त के अन्तर्गत मानव वर्गों की विनिर्माण उद्योग की क्रियाओं, परिवहन की क्रियाओं, वस्तु के उत्पादन तथा क्रय-विक्रय की क्रियाओं तथा नगरीय क्रियाओं के केन्द्रों या केन्द्र-समूहों की अवस्थिति, आकार, प्रकृति व स्थानिक दूरियों के नियमों पर विचार किया जाता है।

सामान्यतः केन्द्रीय स्थान का अर्थ कस्बा या नगर समझा जाता है। परन्तु किसी एक नगरीय क्षेत्र में कई केन्द्रीय स्थान हो सकते है जो वितरण-बिन्दुओं का कार्य करते है और प्रत्येक वितरण बिन्दु अपने-अपने समीपवर्ती क्षेत्र को सेवायें प्रदान करता है। ऐसी सेवायें किसी कस्बे की इमारतों वाले क्षेत्र की भी हो सकती है या किसी ग्रामीण क्षेत्र की भी हो सकती हैं।

केन्द्रीय स्थान शब्द का प्रयोग 1931 में मार्क जैफरसन (Mark Jefferson) ने किया। लेकिन केन्द्रीय स्थान सम्बन्धी की वास्तविक और ठोस आधारशिला तैयार करने का कार्य क्रिस्टैलर ने (1933) में किया। मानव और आर्थिक भूगोल के तीन सुप्रसिद्ध अवस्थिति सिद्धान्तों (वान थ्यूनेन, वेबर तथा क्रिस्टैलर) में इस सिद्धान्त को सबसे अधिक व्यापक रूप में जांचा-परखा गया। बाद में लॉश, गालिन आदि विद्वानों ने अपने विचार उपर्युक्त सिद्धान्तों में सुधार करते हुए प्रकट किये।

वान थ्यूनेन का सिद्धान्त (Von Thunen's Theory)

वान हीनरिज वॉन थ्यूनेन (1783–1850) एक जर्मन विद्वान था जो फार्म मैनेजर था। उसने 1826 में अवस्थिति सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसने तुलनात्मक लाभ के आधार पर विभिन्न कृषि पेटियों की अवस्थिति का

निर्धारण किया। सिद्धान्त से सम्बन्धित मानवीय तथा धरातलीय दशाओं या मान्यताओं का विस्तार से विवेचन कृषि अध्याय में किया जा चुका है।

व्यापार की अवस्थिति के सन्दर्भ में इस सिद्धान्त के अन्तर्गत बनाये गये केन्द्रीय नगर की अवस्थिति ध्यान देने योग्य है जिसके चारों ओर कृषि उत्पादन की विभिन्न सकेन्द्रित पेटियाँ निर्मित होती हैं और तत्सम्बन्धित तमाम व्यापार केन्द्रीय नगर में होता है। इस व्यापारिक केन्द्र में पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति की कल्पना की गई है।
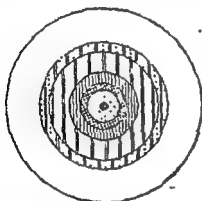
एकाकी प्रदेश में वॉन थ्यूनेन द्वारा प्रस्तावित भूमि उपयोग आवर्त

चित्र : 6.1

वाल्टर क्रिस्टैलर का केन्द्रीय स्थान सम्बन्धी सिद्धान्त
(Walter Christaller's Theory of Central Places)

1933 में वाल्टर क्रिस्टैलर द्वारा Die Sentraler orte in suddendeutschland (Central places in southern Germany) नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। उसने इस पुस्तक को तीन भागों में बाँटा। प्रथम भाग सैद्धान्तिक या जिसको सिद्धान्त बताया गया था। द्वितीय भाग में प्रायोगिक विधियाँ दी गई थी। तृतीय भाग में दक्षिणी जर्मनी में उक्त सिद्धान्त को परखा गया था। मूल रूप से उनका सिद्धान्त नगरीय और ग्रामीण बस्तियों के वितरण के विषय में है।

क्रिस्टैलर के सिद्धान्त का सार यह है कि एक नगरीय केन्द्र के अस्तित्व को उत्पादक भूमि का एक निश्चित क्षेत्रफल आधारित रखता है। उस केन्द्र की सत्ता इसलिए बनी रहती है कि वह अपने चारों ओर के क्षेत्र को अनिवार्य सेवाएँ प्रदान करता रहता है। अतः आदर्श रूप से नगर अपने उत्पादक क्षेत्र के केन्द्र में होना चाहिए। क्रिस्टैलर की यह सकल्पना वॉन थ्यूनेन के सिद्धान्त के समरूप है। इसलिए क्रिस्टैलर का सिद्धान्त भी केन्द्रीय स्थान सिद्धान्त है।

क्रिस्टैलर ने यह सिद्धान्त दक्षिणी जर्मनी की बस्तियो के आधार पर दिया है। उन्होंने प्रशासन संस्कृति, स्वास्थ्य, समाज सेवा, आर्थिक एवं सामाजिक जीवन का संगठन, व्यापार, वित्त, सेवा, उद्योग, श्रम, बाजार का संगठन और ट्रैफिक आदि को केन्द्रीय सेवाएँ माना है। इन सब सेवाओं को तीन वर्गों, निम्न, मध्यम व उच्च में विभाजित किया हैं।

क्रिस्टैलर ने अपने सिद्धान्त को कुछ मान्यताओं को लेकर विकसित किया। ये मान्यतायें है—

(1) प्रदेश (जिसमे केन्द्र स्थल सिद्धान्त लागू होता है) एक समतल मैदान है जिसमे धरातल, मिट्टी की उत्पादकता इत्यादि की विशेषताएँ एक समान हैं।
(2) ग्रामीण जनसंख्या का वितरण भी समान है। परिणामतः क्रय-शक्ति भी सतत् और समान रूप से पूरे प्रदेश में वितरित है।
(3) जनसंख्या केन्द्रों का त्रिभुजाकार वितरण है।
(4) प्रत्येक कार्य की बाजार सीमा निर्धारित है। वस्तुओं या सेवाओं के उपभोक्ता तार्किक रूप से दूरी को न्यूनतम करने के सिद्धान्त के अनुसार कार्य कर रहे है।
(5) किसी भी दिशा मे गमनागमन स्वतन्त्र और समान रूप से सम्भव है। अतः यातायात मूल्य दूरी के प्रत्यक्ष अनुपात में होते है।
(6) जनसंख्या का निश्चित स्थानिक व्यवहार पाया जाता है।

इन सभी विशेषताओं वाले सूक्ष्म या सैद्धान्तिक प्रदेश के लिए ही केन्द्र स्थलों का सिद्धान्त या मॉडल क्रिस्टैलर द्वारा प्रस्तुत किया गया। उपर्युक्त सभी मान्यताओं के सैद्धान्तिक आधार पर ही इस सिद्धान्त की मूल बातें, निष्कर्ष या सामान्यीकरण निम्नलिखित प्रकार से निकाले गए हैं।

1. एक समान धरातल

क्रिस्टैलर की मान्यतानुसार यह धरातल सतत व सीमारहित है। गमनागमन भी सभी ओर है। किसी भी बिन्दु से परिवहन व्यय भी समान है। अतः सम-परिवहन मूल्य रेखाएँ भी सकेन्द्रीय वृत्तो के रूप मे ही दिखाई देती है।

2. ग्रामीण जनसंख्या का समान वितरण

समान धरातल पर समान रूप से वितरित केन्द्रीय स्थानों द्वारा ग्रामीण जनसंख्या की सेवा की जाती है। जैसे-जैसे ग्रामीण जनसख्या का घनत्व बढता है, वैसे-वैसे केन्द्रीय स्थानो के बीच की दूरी कम होती जाती है। जब ग्रामीण जनसख्या विरल होती है, तब केन्द्रीय स्थान भी विरल होते है। अन्य शब्दों मे केन्द्रीय स्थानों के बीच दूरी भी बढ़ जाती है।

3. जनसंख्या केन्द्रों का त्रिभुजाकार वितरण

केन्द्रीय स्थानों की तृतीय विशेषता त्रिभुजाकार किरण है। यह वितरण इसलिए आवश्यक है जिससे सभी स्थानों पर सारी जनसंख्या की सेवा हो सके।
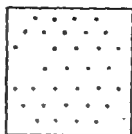
क्रिस्टॉलर के अनुसार केन्द्रीय स्थानों का वितरण

चित्र : 6.2

4. प्रत्येक कार्य के लिए बाजार सीमा

इस मान्यता के अनुसार एक अधिकतम दूरी निर्धारित है, जिसके बाहर व्यक्ति किसी दिए हुए कार्य हेतु नहीं जा सकते। यह दूरी उस कार्य के द्वारा निर्धारित की गई है। निम्नस्तरीय कार्य के लिए व्यक्ति कम दूरी की यात्रा करेंगे व उच्च स्तरीय कार्य के लिए अधिक दूरी तय करेंगे। निम्नस्तरीय कार्यों के केन्द्रीय स्थान छोटे होंगे।

5. किसी कार्य के लिए न्यूनतम आवश्यक (निर्वाहक) जनसंख्या

इस मान्यता के अनुसार किसी सेवा, उत्पादन या व्यापार को चलाने के लिए जब तक जनसंख्या की न्यूनतम संख्या नहीं होगी, तब तक यह कार्य शुरु नहीं होगा। निम्नस्तरीय कार्य, कम जनसंख्या की माँग करते हैं तथा मध्य स्तरीय कार्य उसी अनुपात में जनसंख्या की एवं उच्चस्तरीय कार्य अधिक जनसंख्या की माँग करते हैं। अतः उच्च क्रम के केन्द्र अधिक जनसंख्या के आधार पर—उच्चस्तरीय कार्य सम्पादित करते हैं। उदाहरण के लिए—दैनिक उपभोग की वस्तुओं का व्यापार कम जनसंख्या में भी चल सकता है जबकि विशिष्ट सेवाओं या बहुमूल्य वस्तुओं के व्यापार को चलाने के लिए अधिक जनसंख्या की आवश्यकता होती है।

6. जनसंख्या का निश्चित स्थानिक व्यवहार

इस मान्यता के अनुसार—समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने निकटतम क्षेत्र से ही वस्तु खरीदेगा और दूसरे केन्द्रों से घूमकर भी कोई वस्तु नहीं लायेगा। अतः

ही वह अन्य किसी उद्देश्य से उन केन्द्रों पर जाता है। इस प्रकार यह मान्यता बहुउद्देश्यीय आवागमन की सम्भावना को नकार देती है।

ऊपर वर्णित दशाओं में किसी भी वस्तु या केन्द्र का बाजार क्षेत्र होगा तथा वस्तु का उत्पादक स्थान या केन्द्र बाजार क्षेत्र के मध्य में स्थित होगा। इस बाजार क्षेत्र की बाह्य सीमा उस दूरी से निर्धारित होगी, जहाँ बढ़ी हुई दूरियों के कारण वस्तु की माँग समाप्त हो जायेगी। उसे ऊपरी सीमा या बाहरी सीमा भी कहते हैं। वस्तु की न्यूनतम आवश्यक माँग जहाँ हो, उसे निचली सीमा कहते हैं। सैद्धान्तिक रूप से ये दोनों ही सीमायें वृत्ताकार होनी चाहिए क्योंकि केन्द्र से सब ओर समान दशायें पाई जाती हैं और परिवहन के साधन भी समान प्रकार के हैं। परिवहन व्यय दूरी के अनुपात में बढ़ता है।

चित्र : 6.3

वृत्ताकार से षड्भुजाकार की ओर

किसी प्रदेश के इन वृत्ताकार सेवा क्षेत्रों को यदि इस प्रकार बनाया जाय कि वे एक दूसरे को स्पर्श करें तो इन वृत्तो के बीच असेवित क्षेत्र बच जाते हैं। अतः वृत्तों के बाहर के ऐसे छूटे हुए क्षेत्रों में सम्बन्धित सेवा उपलब्ध नहीं हो पाती।

दूसरी ओर पूरे क्षेत्र को वृत्तो के भीतर शामिल कर लिया जाय तो ऐसे उभयनिष्ठ क्षेत्र मिलेंगे जो पास के दोनों केन्द्रों से वस्तु या सेवा की उपलब्धि के लिए प्रतिस्पर्द्धा के क्षेत्र होंगे।
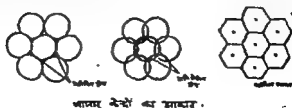
चित्र : 6.4

इस कठिनाई को दूर करते हुए क्रिस्टैलर ने बाजार क्षेत्रों की कल्पना वृत्ताकार न करके षट्भुजाकार (hexagonal) की क्योंकि यही दशा वृत्त का स्थान बिना किसी कठिनाई के हो सकती है।

सेवा क्षेत्रों के षट्भुजाकार जाल के द्वारा न केवल क्षेत्रों की सेवा अधिकतम सम्भव और आदर्श (अर्थात् शामिल किया जाना) होती है बल्कि सेवा केन्द्रों की अधिकतम आदर्श स्थितियां (जिसमें एक स्तर के सभी केन्द्र एक दूसरे से एकदम बराबर दूरियों पर स्थित हों) भी षडकोणीय होती है। ऐसी षडकोणीय स्थिति में पास-पास के कोई भी तीन केन्द्र सीधी रेखाओं द्वारा मिला दिये जाने पर समत्रिबाहु त्रिभुज का निर्माण करते है। पास-पास स्थित दो बाजार क्षेत्रों के वृत्तों के उभयनिष्ठ भागों को उपभोक्ताओं द्वारा न्यूनतम प्रयास के तार्किक सिद्धान्त के अनुसार दो बराबर भागों में बांट देने के फलस्वरूप भी षट्भुज ही प्राप्त होते हैं।
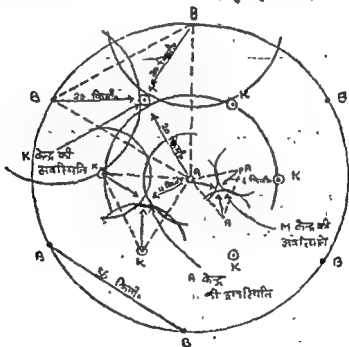
नगरीय पदानुक्रम का निर्माण

चित्र : 6.5

सेवा केन्द्रों का पदानुक्रम

उपर्युक्त चित्र से स्पष्ट है कि व्यापारिक केन्द्रों का एक पदानुक्रम इस षट्कोणीय ढाँचे में विकसित होगा और सबसे अधिक संख्या सबसे छोटी बस्तियों

क्र. स	केन्द्रीय स्थान	जर्मन में	सकेत चिह्न	केन्द्रों की संख्या	सेवा क्षेत्रो की सख्या	प्रदेश का अर्द्धव्यास	दो केन्द्रों के के बीच की दूरी	केन्द्रों की जनसख्या	सेवा क्षेत्र का क्षेत्रफल	सेवा क्षेत्र की जनसख्या
1.	बाजार केन्द्र	Marktort	M	486	729	4·0	6·9	1,000	44	3,500
2.	टाउनशिप केन्द्र	Amtsort	A	162	243	6.9	12.0	2,000	133	11,000
3.	काउण्टी सीट	Kreistadt	K	54	81	12 0	20·7	4,000	400	35,000
4.	डिस्ट्रिक्ट सिटी	Bezirks-tadt	B	18	27	20·7	36·0	10,000	1,200	1,00,000
5.	छोटा राज्य राजधानी	Gaustadt	G	6	9	36 0	62·1	30,000	3,600	3,50,000
6.	प्रान्तीय प्रधाननगर	Provinzs-tadt	P	2	3	62·1	108·0	100,000	10,800	10,00,000
7.	प्रादेशिक राजधानी नगर	Landstadt	L	1	1	108·0	186·8	500,000	32,400	35,00,000

अर्थात् पुरवों या पल्लियों की होगी। प्रत्येक पुरवा ग्रामीण जनसंख्या की सेवा करेगा। ग्रामीण जनसंख्या का घनत्व जितना अधिक होगा, उतने ही बड़े आकार के पुरवे होंगे। पुरवों के ऊपर बड़े गांव होंगे और प्रत्येक बड़े गाँव के व्यापार क्षेत्र की सीमा पर 6 पुरवे होंगे। इसी प्रकार कस्बों और नगरों की स्थिति होगी अर्थात् बड़े गाँव के ऊपर कस्बा और कस्बे के ऊपर नगर। और इस प्रकार स्वतः ही एक पदानुक्रम स्थापित हो जायगा। इन व्यापारिक केन्द्रों और उनके प्रदेशों का वितरण तन्त्र पूर्व पृष्ठ में दी गई सारणी द्वारा स्पष्ट हो जायगा।—

विभिन्न केन्द्रों का क्रम एवं व्यवस्था—उपर्युक्त तालिका में दिये गये केंद्रीय स्थानों का क्रम एवं व्यवस्था सम्बन्धी विवरण निम्नलिखित प्रकार से है—

1. बाजार केन्द्र—इन केन्द्रों के बीच 7–9 कि. मी. की दूरी निर्धारित की गई है अर्थात् ऐसे केन्द्रों के चारों ओर इतनी दूरी तक का क्षेत्र सेवा क्षेत्र या बाजार क्षेत्र कहलायेगा और ये केन्द्र बाजार केन्द्र होंगे। इनके षटकोणीय बाजार क्षेत्र का क्षेत्रफल 45 कि. मी. होगा। यह केन्द्र निम्न-स्तर के कार्य करेगा, यहां रजिस्ट्रार का दफ्तर, पुलिस स्टेशन, डॉक्टर, दन्त-चिकित्सक, पशु-चिकित्सक, एक छोटा होटल, जिला बैंक की स्थानीय शाखा, कापट्समैन, मरम्मत कार्य की दुकानें, शराब बनाने का कारखाना और मिलें, प्रधान डाकघर टेलीफोन एवं रेलवे स्टेशन आदि सेवाएँ व कार्य पाये जाते हैं।

जैसे-जैसे केन्द्रों की दूरी बढ़ती जाती है वैसे-वैसे उसका सेवा क्षेत्र भी बढ़ता जाता है। बाजार केन्द्र से ऊँचे स्तर के केन्द्र $\sqrt{3x7}$ कि. मी की दूरी पर स्थापित होंगे अतः इसी प्रकार प्रत्येक केन्द्र का सेवा क्षेत्र भी तीन गुनी दर से बढ़ता चला जायगा।

2 टाउनशिप केन्द्र—यह निम्न-स्तर का प्रशासकीय केन्द्र है जो आमतौर से तीन बाजार केन्द्रों तथा उनके सेवा क्षेत्रों की सेवा करता है। यह केन्द्र पुलिस, न्यायालय, पुस्तकालय, प्राथमिक स्कूल, संग्रहालय, दवाई विक्रेता, पशु-चिकित्सालय, बैंक, सिनेमा, स्थानीय समाचार-पत्र, व्यापारिक परिषद् विशेष वस्तुओं की बिक्री की दुकानें रखते हैं, जो प्रमुखतः रेल-मार्गों पर स्थित है।

3. काउण्टीसीट केन्द्र—ऐसे केन्द्रीय स्थान 19 वीं शताब्दी में प्रशासकीय केन्द्रों के रूप में विकसित हुए। यहां पर प्रशासन से सम्बन्धित कार्य किए जाते हैं।

4. डिस्ट्रिक्ट सिटी—ऐसे केन्द्रों का आर्थिक दृष्टि से बड़ा महत्व है। इस क्षेत्र पर जिला श्रम दफ्तर, उच्च शिक्षा संस्थान, विशेषज्ञ, चिकित्सक, कई सिनेमाघर, विशेष वस्तु की बिक्री की दुकानें, गोदाम, दैनिक समाचारपत्र, कई जिला बैंक, कई डाकघर आदि सेवाएँ पाई जाती हैं।

5. छोटा राज्य राजधानी—ऐसे स्थान की तुलना फ्रांस के छोटे प्रान्त से की जा सकती है।

6. प्रान्तीय प्रधान नगर—यह एक लाख की जनसंख्या रखने वाला केन्द्र है।

7. प्रादेशिक राजधानी नगर—ये पाँच लाख की जनसंख्या वाले केन्द्र है। ये पूरे प्रदेश की राजधानी होते हैं।

क्रिस्टैलर ने राजधानी नगर को Reichstadt (R) का नाम दिया है। इसके अनुसार R व L नगरो के बीच मे मध्यवर्ती प्रकार के नगर भी मिलते है। जैसे जर्मनी में हेम्बर्ग, कोलोन, डूसेलडोर्फ, म्यूनिख इसी प्रकार के मध्यवर्ती नगर हैं।

केन्द्रीय स्थान प्रणाली
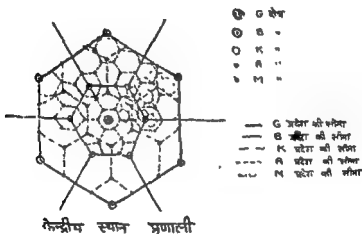
चित्र 6.6

वस्तुओं व सेवाओं का कार्याधार (Threshold for goods and services)

क्रिस्टैलर में केन्द्रीय वस्तु के प्रसार और बाजार क्षेत्र की सैद्धान्तिक व्याख्या करते हुए बहुत सी और भिन्न प्रकार की वस्तुओ और सेवाओं को प्रदान करने वाले केन्द्रों एवं उनके व्यापार क्षेत्रों के पदानुक्रम की सकल्पना इस प्रकार प्रस्तुत की है कि आवश्यक सेवाओ को प्रदान करने वाले भण्डारों एवं केन्द्र स्थलों की संख्या प्रदेश में अधिकतम हो। उच्चतम श्रेणी की वस्तुओं व सेवाओं का कार्याधार (किसी वस्तु के उत्पादन या कार्य के सम्पादन के लिए आवश्यक न्यूनतम मांग, जन-संख्या या आधार) सबसे बड़ा होता है। इन केन्द्रों मे कम कार्याधार वाली सभी वस्तुएँ भी उपलब्ध रहती हैं। इस दी हुई दशा के साथ ही ये उच्चतम केन्द्र स्थल सभी वस्तुओ व सेवाओं को प्रदान करते हैं। इनसे तुरन्त नीचे के केन्द्र स्थल जो उच्चतम कार्याधार वाली वस्तुओं व सेवाओं से थोड़ा कम कार्याधार वाली वस्तुओ व सेवाओं की पूर्ति करेंगे। दिए हुए तीन मौलिक केन्द्र स्थलों के ठीक बीच मे ही स्थित होगे।

इस प्रकार दूसरी श्रेणी के केन्द्र स्थल जो अपने स्तर की वस्तुओं तथा इससे नीचे के स्तर वाली वस्तुओं की पूर्ति करेंगे, षटभुजों का जाल बनाते हुए पूरे प्रदेश में विकसित होंगे। अतः केन्द्र स्थलों का यह पदानुक्रम परस्पर सम्बन्धित होगा।

यद्यपि क्रिस्टैलर ने अविभाजित केन्द्रों के लाभकारी दृष्टिकोण को सहमति दी। परन्तु उसने यह सुझाव दिया कि किसी केन्द्रीय स्थान को अधिकतम षट्भुजाकार सीमायुक्त बनाने की अपेक्षा उन केन्द्रों का एक जाल बनना चाहिए। इस जाल का निर्माण निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अलग-अलग होगा।

1. केन्द्रीय स्थ से किसी वस्तु का वितरण वहाँ होगा जहाँ तक कि उसे लाभ प्राप्त हो। उसके लिए क्रिस्टैलर ने बाजार सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

2. परिवहन लागत कहाँ महत्वपूर्ण है ? इस उद्देश्य के लिए यातायात नियम निर्धारित किया।

3. कहाँ पर प्रशासनिक नियन्त्रण महत्वपूर्ण है ? इस प्रशासनिक सिद्धान्त को बताते हुए क्रिस्टैलर ने स्पष्ट किया कि इस प्रकार के पदानुक्रम (hierarchy) में एक केन्द्रीय स्थान का सम्बन्ध उस पर आश्रित 6 उप-केन्द्रों से होगा।
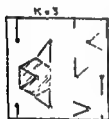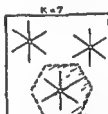
क्रिस्टॉलर के अनुसार केन्द्रीय स्थानों के वैकल्पिक जाल के नियम

चित्र 6.7

बाजार सिद्धान्त

इस सिद्धान्त पर आधारित केन्द्र स्थलों के मण्डल या जाल को K = 3 जाल या K = 3 व्यवस्था कहा गया है। क्योंकि इस प्रतिदर्श में K जो सबसे बड़े (अपेक्षाकृत) केन्द्र स्थल के लिए एक प्रतीक चिह्न है। अपने से ठीक नीचे की पदानुक्रमीय श्रेणी के तीन केन्द्र स्थलों के बराबर होता है। इसलिए कहा गया है कि बाजार सिद्धान्त पर विकसित केन्द्र स्थल तन्त्र में जाल-निर्माण तीन के नियम के अनुसार होता है अर्थात् प्रत्येक बड़े केन्द्र पर उससे तुरन्त छोटे केन्द्रों की संख्या तीन ही होती है। अतः K मान किसी प्रदेश के किसी बड़ी श्रेणी के केन्द्रों की संख्या व उससे छोटी श्रेणी के केन्द्रों की संख्या के बीच के अनुपात को व्यक्त

करने वाली संख्या को कहते हैं। एक प्रदेश के पदानुक्रम में K मूल्य सिद्धान्त स्थिर रहता है परन्तु जब इसकी संख्या तीन गुनी होती है तब जनसंख्या एक-तिहाई हो जाती है। अतः तीनों केन्द्रो की जनसंख्या मिलकर K के बराबर ही होती है।
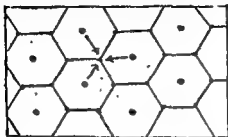
निश्चित K=3 पदानुक्रमीय प्रणाली

चित्र 6.8

बाजार सिद्धान्त उस दशा में कार्य करता है जब केन्द्र स्थलो से आश्रित क्षेत्रों के लिए वस्तुओं की पूर्ति अधिक से अधिक नजदीक स्थित होना चाहती है। संक्षेप में सभी क्षेत्रों को समान और हर स्तर की व्यापार सेवा उपलब्ध कराना इस सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य रहता है। इसमें निचली श्रेणी के 6 केन्द्रों की स्थिति षट्भुज के शीर्ष बिन्दुओं पर होती है। अतः इन 6 केन्द्रों के प्रदेशों के केवल एक-तिहाई और केन्द्रों की संख्या का भी एक-तिहाई भाग अर्थात् दो केन्द्र और उनके प्रदेश बड़ी श्रेणी के अन्तर्गत शामिल होते है और बड़े केन्द्र से वस्तुओं की प्राप्ति करते हैं। अतः भिन्न-भिन्न पदानुक्रमीय वर्गों में केन्द्रो और उनके प्रदेशों की कुल संख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि क्रमशः 1,3,9,27,81,243,729…… की होती है जबकि वास्तविक वृद्धि 1,2,6,18,54,162,486…… की होती है। इस सिद्धान्त से समवाय पदानुक्रमित जाल का विकास होगा।

2. यातायात नियम

जहाँ कि जाल की कीमत वस्तुओं व सेवाओं के वितरण से भी अधिक महत्वपूर्ण होती हैं, केन्द्र स्थल यातायात सिद्धान्त के अनुसार रैखिक ढंग से विकसित होते हैं न कि क्षेत्रीय या स्थानात्मक ढंग से, जैसा कि बाजार सिद्धान्त के कार्य करने में होता है। इस सिद्धान्त के कार्य करने पर प्रथम श्रेणी के महानगरीय केन्द्रों और उनके प्रदेशों के त्रिभुजाकार, षट्भुजाकार वितरण की मानी हुई दशा में अगली श्रेणी के केन्द्र तीनों दिए हुए केन्द्रों को सीधे जोड़ने वाले मुख्य यातायात मार्गों पर ठीक मध्य में स्थित होंगे। अतः प्रत्येक दो केन्द्र के ठीक बीच में दूसरी श्रेणी का एक केन्द्र स्थित होगा। इसमें निचली श्रेणी के 6 केन्द्र षट्भुज के शीर्ष बिन्दुओं पर स्थित न होकर, उसकी प्रत्येक भुजा को दो भागों में बाँटने वाले

बिन्दुओं पर स्थित होते हैं। परिणामस्वरूप 6 केन्द्रों में से प्रत्येक प्रदेश के मध्य भाग बड़े प्रदेश के अन्तर्गत शामिल होते हैं।
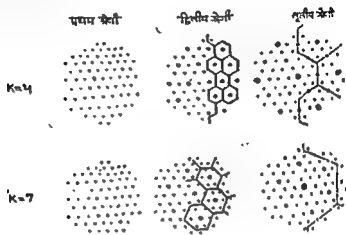
निश्चित K प्रणाली के तीन श्रेणी पदानुक्रम

चित्र 6.9

और चूँकि इनमें से प्रत्येक केन्द्र पास के दोनों बड़े केन्द्रों से सेवाएँ प्राप्त करता है। अतः 6 केन्द्रों और उनके प्रदेश का आधा अर्थात् तीन बड़े केन्द्र और उसके प्रदेश के साथ मिलकर K = 4 पदानुक्रम का निर्माण करते हैं जिसमें केन्द्रों और उनके प्रदेशों की संख्या में कुल वृद्धि क्रमशः 1,4,16,64,256 .... की व वास्तविक वृद्धि 1,3,12,48,172..............की होती है।

3. प्रशासकीय नियम

प्रशासकीय नियम राजनीतिक वर्ग का है जहाँ प्रशासकीय नियन्त्रण शक्ति का उचित क्षेत्रीय विभाजन या सुरक्षा और राजनीतिक सेवाओं की पूर्ति आवश्यक होती है। इस प्रदेश में निचली श्रेणी के सभी 6 केन्द्र बड़ी श्रेणी के केन्द्र के षट्भुजाकार प्रदेश के पूर्णतः भीतर षट्कोणीय ढंग से इस प्रकार स्थित होते हैं कि सभी 6 केन्द्र और उनके प्रदेश पूरी तरह एक ही बड़े केन्द्र और उसके प्रदेश से सम्बद्ध होते हैं। अतः इस सिद्धान्त में केन्द्रों का जाल सात के नियम के अनुसार होता है। इसलिए इसके द्वारा K = 7 पदानुक्रम का निर्माण होता है। इसमें केन्द्रों और प्रदेशों की कुल संख्या 1,7,49............के अनुपात में बढ़ेगी।

तीनों सिद्धान्तों पर विकसित केन्द्र स्थल मण्डलों में निरन्तर श्रेणी केन्द्र स्थलों की व्यवस्था तथा समावेश की विशेषताएँ तो भिन्न-भिन्न होती ही हैं, यातायात मार्ग भी अलग-अलग ढंग से विकसित होते हैं। इन तीनों में से कोई

सिद्धान्त किसी प्रदेश मे अधिक प्रभावशाली हो सकता है या तीनों मिलकर काम कर सकते हैं। लेकिन बाजार सिद्धान्त मुख्य नियम है जबकि अन्य दोनों सिद्धांत विचलन की व्याख्या करने वाले गौण नियम है।

क्रिस्टैलर के सिद्धान्त के मुख्य कथनों को विशेषतः उनके बाजार सिद्धान्त पर आधारित निष्कर्षों को, सारांश रूप में निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है—

1. केन्द्रीय कार्यों के केन्द्रीयकरण की मात्रा और स्तर के आधार पर केन्द्रस्थलों मे पदानुक्रमीय वर्ग विभाजन पाया जाता है। पदानुक्रम जितना ही ऊंचा होगा, केन्द्रीकृत सेवाओं की संख्या व जटिलता उतनी ही अधिक होगी।

2. केन्द्र स्थलो के सेवा प्रदेश षट्भुजाकार होते है। प्रत्येक बड़ा केन्द्र अपने प्रदेश की सीमाओं पर या सीमाओं की ओर निम्नतर श्रेणी के 6 केन्द्रों को रखता है और इसके प्रदेश मे इन छोटे केन्द्रों के छोटे बाजार सिद्धान्त पर 3, यातायात सिद्धान्त पर 4 और प्रशासकीय सिद्धान्त पर 7 के नियम के अनुसार समाविष्ट होते हैं।

3. एक बाजार केन्द्र पदानुक्रम में सबसे छोटा केन्द्र स्थल है व उसका बाजार क्षेत्र 4 कि. मी. अर्द्धव्यास का तथा अन्य केन्द्रों से 7 कि. मी. दूर होता है, उसका क्षेत्रफल 45 वर्ग कि. मी. व जनसंख्या 2700 होती है। इसी प्रकार उससे बड़े केन्द्रों का क्षेत्र, अर्द्धव्यास $\sqrt{3}$ के आधार पर बढ़ता जायेगा।

4. बाद में आने वाली अगली श्रेणियों के केन्द्रों की संख्या उच्चतर श्रेणी के केन्द्रों की संख्या के साथ एक निश्चित् गणितीय अनुपात रखती है। जो कि स्थिर रहता है बाजार सिद्धान्त में $K = 3$, प्रशासकीय नियम में $K = 7$, यातायात नियम पर $K = 4$ होता है। इसलिए इसे स्थिर K पदानुक्रम कहते हैं। एक केन्द्र स्थल तन्त्र में 1L, 2P, 6G, 18B, 54K, 132A तथा 486M केन्द्र होंगे व जनसंख्या तीन गुनी कम होती जायेगी।

5. केन्द्र स्थलों के पदानुक्रम के अनुसार ही यातायात मार्गों का भी पदानुक्रम विकसित होता है।

6. कार्यों की प्रभावी जनसंख्या/कार्याधार जनसंख्या (Threshold population) उपभोक्ताओं की मांग पर निर्भर करती है।

सार रूप में क्रिस्टैलर के सिद्धान्त को उसकी मान्यताओं के साथ निम्नलिखित प्रकार से समझा जा सकता है :—

(अ) केन्द्रीय स्थानों का आकारिकी पदानुक्रम (morphological hierarchy)।

(आ) केन्द्रीय स्थानों का कार्यात्मक पदानुक्रम (functional hierarchy)

(इ) एक समान धरातल पर बाजार क्षेत्रों का षटभुजीय रूप।

(ई) निम्न-स्तर के कार्यों का बाजार क्षेत्र जो कि छोटा है। वह उच्च स्तर के कार्यों के बाजार क्षेत्रों में भी स्वतः ही पाया जाता है।

(उ) उच्च-स्तरीय केन्द्र प्रदेश निम्न-स्तर के केन्द्र स्थानों से निश्चित दूरी पर स्थित है।

केन्द्रीयता का घातांक (Index of Centrality)—

क्रिस्टेलर ने बस्तियों के सम्बन्ध में टेलिफोन सेवाओं पर आधारित केन्द्रीयता घातांक को एक सूत्र द्वारा निकाला था जो निम्नलिखित है :—

जहाँ के. घा. $= ट - \frac{जट^1}{ज^1}$

के. घा	=	केन्द्रीयता का घातांक
ट	=	किसी कस्बे में टेलिफोनों की संख्या।
ज	=	कस्बे की जनसंख्या।
$ट^1$	=	उस प्रदेश में टेलिफोनो की संख्या।
$ज^1$	=	समस्त प्रदेश की जनसंख्या।[1]

क्रिस्टैलर के केन्द्रीय स्थान सिद्धान्त की आलोचना

1. यह सिद्धान्त इतना अधिक सैद्धान्तिक, सूक्ष्म अथवा आदर्श किस्म का है कि वास्तविक दशाओं में लागू होना अत्यन्त कठिन है। ऐसा यातायात प्रतिरूप भी मिलना मुश्किल ही है, जो परस्पर जुड़े षटभुजीय प्रदेश का विकास कर सके। क्रिस्टैलर की यह मान्यता थी कि बाजार क्षेत्र या सेवा प्रदेश उभयनिष्ठ न होकर षटभुजीय होते हैं। अतः यह उभयनिष्ठ सेवा प्रदेशों की वास्तविकता से मेल नहीं खाता।

2. क्रिस्टैलर के अनुपात और सम्बन्ध वास्तविक क्षेत्र अनुभवों पर आधारित न होकर वैचारिक मान्यताओं के रूप में ही अधिक प्रतीत होते हैं। छोटे केन्द्रों का अगली श्रेणी के बड़े केन्द्रों के साथ जो अनुपात उन्होंने बताया है, उसके बारे में असहमति है। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि बड़े केन्द्रों की उपस्थिति के कारण उनके समीप छोटे केन्द्रों का विकास प्रोत्साहित नहीं होता। विशेष रूप से उन दूरियों पर, जिन्हें क्रिस्टैलर ने बताया।

3. औद्योगीकरण जैसे कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रीय या स्थानीय कारक सिद्धान्त को मूल बातों से काफी हटे हुए प्रतिरूपों का विकास करते हैं। इनमें प्रमुख हैं :—

---

1. $C = \left(T + - \frac{pT}{P} \right)$

(i) एकत्रीकरण
(ii) यातायात मार्ग
(iii) औद्योगीकरण की मात्रा
(iv) धरातल
(v) मिट्टी उत्पादकता व कृषि की तीव्रता व प्रकार
(vi) प्रशासकीय संगठन
(vii) विकास के इतिहास के विशिष्ट तत्व
(viii) संसाधनो का अलग-अलग ढगो से वितरण—रैखिक, बिन्दु-केन्द्रित, क्षेत्र केन्द्रित इत्यादि ढगों से ।

4. उनका सिद्धान्त अनुभवात्मक प्रमाणों पर उतना आधारित नही है जितना निगमनों या मान्यताओं का ।

5 केन्द्रीय स्थानों की पद्धति न तो निश्चित है और न स्थायी । जर्मनी के अधिकाश नगर वास्तविक केन्द्र स्थलो के रूप मे न होकर या तो औद्योगिक केन्द्र हैं या कृषको के ग्राम हैं व सूखा, बाढ़ या अन्य आकस्मिक विपदाओं से भी केन्द्र-स्थल तन्त्र परिवर्तित होता रहता है ।

6. केन्द्रीयता को निर्धारित करने का उनका मापदण्ड पर्याप्त नही है ।

केवल उन विस्तृत मैदानों मे जो कृषि-प्रधान है, जैसे विश्व के नदी घाटी प्रदेश में क्रिस्टैलर का सिद्धान्त अशतः लागू होता है ।

महत्व :—क्रिस्टैलर का सिद्धान्त उस परिस्थिति या दशा में केन्द्र स्थलों की स्थिति या तन्त्र से सम्बन्धित है जो एक आदर्श या कल्पित प्रकार के है तथा जिसमें आर्थिक कारक ही कार्य कर रहे है । उनका सिद्धान्त एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत करता है; जिसके विचलनो की व्याख्या बदलती हुई दशाओ से की जा सकती है व जिसे वास्तविक परिस्थितियो के सन्दर्भ मे सुधारा जा सकता है । बाजार सिद्धान्त पर आधारित उनका केन्द्र स्थल तन्त्र सर्वाधिक आदर्श दशाओं मे लागू होता है । केन्द्र स्थलों का पदानुक्रमीय वर्ग विभाजन क्रिस्टैलर के सिद्धान्त की एक मूलभूत तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण सकल्पना है ।

3. लॉश का केन्द्र स्थल तन्त्र (Losch's Central Place System)

1940 में लॉश द्वारा जर्मन भाषा मे लिखित पुस्तक का 1954 में 'The Economics of the Location' के नाम से अनुवाद किया गया । लॉश ने क्रिस्टैलर के केन्द्र स्थल सिद्धान्त से सम्बन्धित विचारों को सुधार कर अलग ही ढंग से व्यक्त किया । वे क्रिस्टैलर से इस बात को लेकर सहमत थे कि सेवा केन्द्रों की त्रिभुजाकार व्यवस्था और उनके षटभुजीय बाजार क्षेत्र-किसी वस्तु के लिए आदर्श व्यवस्था है । जबकि सभी दिशाओ में समान पहुँच की विशेषता रखने वाला तथा समरूप घनत्व का सीमारहित मैदान प्रदेश के रूप मे हो । परन्तु लॉश ने

कृषि के गाँवों की सघन बस्तियों के वितरण को त्रिभुजाकार प्रतिरूप में माना। उसने केन्द्रों तथा बाजार क्षेत्रों का अनुकूलतम त्रिभुजीय षटकोणीय प्रारूप सिद्ध किया था।

लॉश ने जिस आर्थिक भूदृश्य की संकल्पना प्रस्तुत की वह अपेक्षाकृत अधिक जटिल परन्तु अधिक वास्तविक है। लॉश ने केन्द्र स्थल सिद्धान्त को अपना योगदान मुख्यतः इन रूपों में किया है :—

1. केन्द्र स्थल तन्त्र के दो पहलुओं की अधिक स्पष्ट व्याख्या इन्होंने एक तो फर्म के आर्थिक सिद्धान्त के आधार पर पूर्ति व माँग का अधिक श्रम-साध्य विश्लेषण करके किसी दी हुई वस्तु के लिए बनने वाले स्थानात्मक माँग-शंकुओं को ठीक-ठीक ज्ञात किया।

लॉश द्वारा किसी उत्पादन के माँग वक्र से निकाले गए बाजारक्षेत्र का माँग शंकु

चित्र 6.10

लॉश एक प्रारम्भिक स्थिति की कल्पना करते हैं जिसमें सम्पूर्ण प्रदेश में आत्मनिर्भर कृषि में संलग्न समान रूप से वितरित ग्रामीण अधिवासी हैं। अब यदि इनमें से किसी एक पदार्थ विशेष का अधिक उत्पादन करता है, जिसका विक्रय करना चाहता है तो उस पदार्थ के लिए वृत्ताकार बाजार क्षेत्र पनपेगा जहाँ कि परिवहन व्यय में क्रमशः वृद्धि के कारण कीमत इतनी अधिक हो जायेगी कि उस वस्तु की माँग बन्द हो जायेगी।

उदाहरणार्थ बीयर का माँग वक्र चित्र के अनुसार होगा। बीयर की माँग OP शराब कारखाने में होती है। जब कीमत OP होती है तो PQ मात्रा का उपयोग किया जाता है। P से आगे R.S पर कम उपयोग होता है क्योंकि R पर P की अपेक्षा परिवहन लागत में वृद्धि से बीयर की कीमत बढ़ जाती है। F पर परिवहन लागत अत्यधिक हो जाने से बीयर नहीं बिक सकती, FT बीयर माँग वक्र है। बीयर का बाजार क्षेत्र PFQ को चारों ओर से घुमाने पर जो क्षेत्र बनेगा, उसकी बिक्री का क्षेत्र होगा।

चित्र 6.11
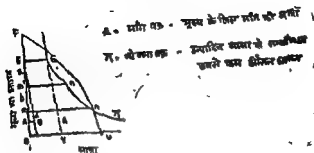
(ii) उन्होंने इस निर्णय का स्पष्ट गणितीय और आर्थिक प्रमाण दिया कि षडभुज की आकृति का बाजार क्षेत्र सबसे अच्छी आकृति है जिसमें क्रयशक्ति का एक रूप वितरण हो सकता है। इसमें कम भूमि की आवश्यकता पड़ती है।

2. क्रिस्टॉलर के K = 3 रेखाजाल (Network) को एक विशेष उदाहरण-स्वरूप मानते हुए लॉश ने एक अधिक सामान्य केन्द्र स्थल तन्त्र की विवेचना की। जिसमे 'अस्थिर' या ढीले K मूल्यों का उपयोग किया। अर्थात् समान रूप से वितरित केन्द्र स्थलों एवं उनके षडभुजीय बाजार क्षेत्रों पर लागू होने वाले सभी संभव K मूल्यों का उपयोग एक साथ किया जिससे सभी संभव वैकल्पिक आकारों के व्यापार क्षेत्र वस्तुओं या सेवाओं के लिए कार्याधारों या प्रवेश दशाओं के अनुसार किसी केन्द्र स्थल के लिए हो सके। इसलिए लॉश के पदानुक्रम सिद्धान्त को विचल-के-पदानुक्रम (Variable-K-hierarchy) कहते हैं। अपने केन्द्र स्थल तन्त्र के विकास में लॉश ने माना है कि (1) उपभोक्ताओं का समवितरण होना चाहिए व (2) किसी भी फर्म द्वारा अतिरिक्त लाभ नहीं कमाया जाना चाहिए (3) केन्द्रों के मध्य के यातायात मार्गों की व्यवस्था को लॉश केन्द्रस्थल सिद्धान्त से स्पष्ट रूप से सम्बन्धित किया है। उनका केन्द्रीय स्थल पदानुक्रमीय विशिष्टीकृत किस्म का है।
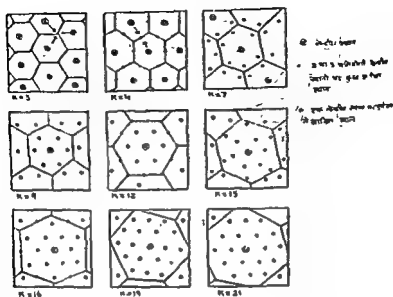
लॉश के अनुसार 9 सबसे छोटे षट्भुजाकार प्रदेश

चित्र 6.12

उपर्युक्त चित्र में दो रेखाओं के द्वारा उन केन्द्रीय स्थानों को प्रदर्शित किया गया है जो विशिष्ट कार्य करते हैं। आश्रित स्थानों को एक-एक रेखा के खुले हुए वृत्तों द्वारा प्रदर्शित किया गया है और जो आश्रित स्थान किसी केन्द्रीय स्थान की परिमाप पर स्थित है। उनको बन्द काले वृत्तों द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

लॉश क को मूल्य परिवर्तित मानता है। यहाँ प्रथम चित्र क का मूल्य तीन बताया है। यहाँ केन्द्रीय स्थान तीन आश्रित स्थानों की सेवाएँ प्रदान करता है। इस प्रतिरूप में प्रत्येक केन्द्रीय स्थान को उसके समीपवर्ती 6 बस्तियों का केवल 1/3 भाग मिलता है क्योंकि प्रत्येक आश्रित स्थान को तीन केन्द्रीय स्थानों की सेवाएँ मिलती हैं जैसाकि तीरों द्वारा भी मालूम होता है।

दूसरे रेखाचित्र में क का मूल्य 4 बताया गया है। इस प्रतिरूप में षट्कोणीय जाल को 90 अंशों में इस प्रकार घुमाया गया है कि सीमा पर स्थित बस्तियाँ केवल दो केन्द्रीय स्थान में विभाजित हो जाती हैं। अर्थात् एक आश्रित बस्ती दो केन्द्रीय स्थानों पर निर्भर करती है। इसमें क का मूल्य बढ़कर 4 हो जाता है। इस प्रकार मूल्य बदलते रहते हैं। 3, 4, 7, 9, 12, 13, 16, 19 व 21 है। बस्तियों की संख्या व मात्रा दूरी के विचार से क = 7, क = 13 व क = 19 की दशाएँ खास हैं। ये राजनीतिक व आर्थिक दृष्टि से स्थायी होती हैं। लॉश ने 10 छोटे क्षेत्रों को भी बताया है। (सारिणी 6.1 अगले पृष्ठ पर)

इस प्रकार लॉश ने क का परिवर्तित मूल्य पदानुक्रम सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। उसने विभिन्न आकारों के षटकोणों को केवल एक बिन्दु पर ऊपर नीचे रखकर समस्त जालों को उस बिन्दु के चारों ओर घुमाकर क मूल्य ज्ञात किये है। इससे जो प्रतिरूप बने, उसमें 6 खण्डो में बहुत संख्या मे उत्पादन स्थान थे। इस क्रम मे :–
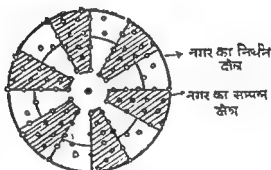
लॉश द्वारा बतलाए गए नगर के खण्ड

चित्र 6.13

(i) सभी जालों में एक सर्वनिष्ठ केन्द्र होता है।
(ii) प्रविस्थितियो की सबसे बड़ी संख्या एक दूसरे के सम्पाती होती हैं।
(iii) औद्योगिक प्रविस्थितों के बीच न्यूनतम दूरियो का योग सबसे छोटा होता है।
(iv) केवल भो भार ही नही वरन् परिवहन मार्गों की लम्बाइयाँ भी न्यूनतम होती है।

लॉश ने अपने पदानुक्रम को निर्मित करने को शुरुआत निम्नतम श्रेणी की वस्तु से की जो निम्नतम कार्याधार रखने तथा सर्वाधिक स्थानीय होने के कारण सर्वाधिक उपलब्ध है। लॉश ने क्रिस्टेलर के विपरीत कृषि गांवो या पुरवो से युक्त प्रदेश मे सर्वप्रथम ऐसे केन्द्रीय ग्रामों की कल्पना की है जो समूचे प्रदेश मे आदर्श त्रिभुजाकार षडभुजाकार ढंग से स्थित है। जिसमे से प्रत्येक में निम्नतम श्रेणी की वस्तु उपलब्ध है और जिसमे से प्रत्येक के षडभुजीय व्यापार प्रदेश के भीतर कुल 18 गांव दो सकेन्द्रित षडभुजों का निर्माण करते हुए आदर्श त्रिभुजाकार षड-भुजाकार ढंग से ही वितरित हैं।

सबसे छोटे दस सम्भावित बाजार क्षेत्र

चित्र 6.14

सारिणी 6.1

क्षेत्र संख्या	पूर्णतः आधारित बस्तियां	बस्ती केन्द्रों के बीच दूरी	विचलन
1.	3	$a\sqrt{3}$	a
2.	4	$a\sqrt{4}$	a
3.	7	$a\sqrt{7}$	a
4.	9	$a\sqrt{9}$	a/3
5.	12	$a\sqrt{12}$	2a
6.	13	$a\sqrt{13}$	a/3
7.	16	$a\sqrt{16}$	2a
8.	19	$a\sqrt{19}$	2a
9.	21	$a\sqrt{21}$	a/7
10.	25	$a\sqrt{25}$	a/7

स्पष्ट है कि उपर्युक्त प्रकार के तंत्र में भिन्न-भिन्न श्रेणी की वस्तुओं की पूर्ति भिन्न-भिन्न केन्द्रों से होगी। षड्भुजों के आकार और अभिमुखीकरण से यह ज्ञात किया जा सकता है कि कौन से प्रकार के कार्य किन केन्द्रों में सम्पादित होंगे। केन्द्रीय ग्रामों के आधारभूत जाल में से एक केन्द्रीय ग्राम को प्रारम्भ बिन्दु मानकर समूचे आर्थिक भू-दृश्य को प्रस्तुत किया जा सकता है। इस आवश्यकता या आधार को मानकर कि केन्द्र स्थलों में कार्यों या वस्तुओं का एकत्रीकरण जो सम्भव हो होना चाहिए। बड़े आकार के षड्भुजों के सभी जालों को केन्द्रीय ग्रामों के आधारभूत जाल के ऊपर इस प्रकार अध्यारोपित किया जाये कि बड़े जालों में से प्रत्येक का एक केन्द्र प्रारम्भ बिन्दु के रूप में चुने गये ग्राम से मिल जाता है। इन

प्रत्येक केन्द्रों को इस ग्राम पर स्थिर रखते हुए भिन्न-भिन्न षडभुजीय जालों को तब तक घुमाया जाय जब तक प्रतिरूप के अन्य दूसरे केन्द्रों का अधिकतम मिलन न प्राप्त हो जाय। प्रारम्भ विन्दु के रूप में चुना गया पूर्वोक्त ग्राम इस तन्त्र में महानगर होगा क्योंकि इसमें सभी कार्य उपलब्ध हैं।

इस महानगर के चारों तरफ स्थित षडभुजीय प्रदेश को 60° के 6 खण्डों में बाँटा जा सकता है जिनमें से प्रत्येक खण्ड में केन्द्र स्थलों का प्रतिरूप एक ही तरह का होगा। परन्तु एक केन्द्र में निम्न भिन्नताएँ होंगी—

(1) कुल वस्तुओं या कार्यों की संख्या

(2) उपलब्ध वस्तुओं की श्रेणी या प्रकार

(3) सेवित बाजार क्षेत्रों की संख्या एवं आकार।

लॉश के भू-दृश्य की एक विशेषता यह है कि प्रत्येक खण्ड स्पष्ट और बराबर भागों में पुनः बँट जाता है। जिसमें से एक भाग या खण्ड में अधिक विकसित और तीव्रतर विशिष्टीकरण वाले केन्द्र होंगे और दूसरे भाग में ऐसे केन्द्रों की आपेक्षिक कमी काफी होगी। इसलिए इन खण्डों को क्रमशः नगर के धनी क्षेत्र (City rich sector) और नगर के निर्धन क्षेत्र (City poor sector) कहा गया है।

आलोचना

(1) इसमें लागत की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया।

(2) इसमें एक विशेष प्रकार के आर्थिक तन्त्र की कल्पना की गई है जिसमें कृषि का समान क्षेत्रीय विस्तार माना जाता है जबकि इसके उत्पादन के लिए बाजार विन्दु विशेष स्थान पर केन्द्रित है।

(3) इससे वास्तविक औद्योगिक उत्पादन के स्थानीयकरण की व्यवस्था में विशेष मदद नहीं मिलती।

(4) किसी भी वस्तु विशेष के उत्पादन हेतु खपत का उपयुक्त बाजार नगरों के भीतर आकार में ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा छोटा होता है।

क्रिस्टैलर व लॉश की तुलना

(1) क्रिस्टैलर उच्चतम कार्याधार वाली वस्तु तथा सबसे बड़े केन्द्र महानगर से प्रारम्भ करते हैं जबकि लॉश निम्नतम कार्याधार वाली वस्तु तथा सबसे छोटे केन्द्र से अपना सिद्धान्त शुरू करते हैं।

(2) क्रिस्टैलर का सिद्धान्त तृतीयक कार्यों या सेवाओं की व्याख्या के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है। जबकि लॉश का माडल माध्यमिक क्रियाओं की व्याख्या के लिए भी उपयुक्त समझा जाता है क्योंकि उन्होंने बाजारोन्मुख विनिर्माण उद्योग के स्थानात्मक वितरण के लिए एक ढाँचा तैयार किया है।

(3) केन्द्र स्थलीय पदानुक्रम में भी अन्तर है। क्रिस्टैलर ने स्पष्ट पदानुक्रमीय श्रेणियों में केन्द्रों को विभाजित किया है और बड़े केन्द्रों के सन्दर्भ में छोटे

केन्द्रों को स्थित किया है। दूसरी तरफ लॉश का भिन्न-भिन्न आकार के नगरों का पदानुक्रम सातत्य की तरफ ले जाता है क्योंकि उन्होंने भिन्न-भिन्न कार्यों के भिन्न-भिन्न आकारों के षडभुजीय मण्डल को एक साथ रखा है। क्रिस्टेलर के स्तर के केन्द्र एक ही प्रकार के कार्य व एक ही संख्या में सम्पादित करते हैं जबकि लॉश के पदानुक्रम में एक स्तर के केन्द्रों में कार्यों की संख्या एक होती है। परन्तु कार्यों का प्रकार एक होना आवश्यक नहीं। अतः लॉश का माडेल क्रिस्टेलर की तुलना में अधिक जटिल है।

(4) लॉश का माडेल सामान्यीकृत होते हुए भी जटिल होने के कारण कम लोकप्रिय है।

4. गालपिन (Gallpin)—इनके अनुसार व्यापारिक क्षेत्र वृत्ताकार होंगे व इनके कुछ भाग आपस में एक दूसरे को ढक लेंगे।
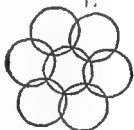
गालपिन के अनुसार सेवा केन्द्रों का वितरण

चित्र 6.15

5. कोल्ब (Kolbe)—ने गालपिन के वृत्ताकार आकृति के व्यापारिक क्षेत्र की ही व्याख्या की है। उसका विचार क्रिस्टेलर द्वारा बताए गए षटकोणीय प्रतिरूप से भिन्नता रखता है।
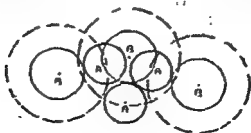
कोल्ब के अनुसार सेवा केन्द्रों का वितरण

चित्र 6.16

6. कोहल (Kohle)—1841 मे जे. जी. कोहल ने बताया कि नगर की स्थापना मे यातायात मार्गों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। उसने नगर तथा प्राकृतिक व सांस्कृतिक वातावरण के बीच के सम्बन्धों के बारे में निरीक्षण किया।

7. कूले (Coule)—सी. एच. कूले ने 1894 में बताया था कि रेल-मार्ग अन्य यातायात साधनों की अपेक्षा व्यापार केन्द्रों की स्थापना व विकास पर अधिक प्रभाव डालते है, यातायात में व्यवधान हो जाने पर भी नगर की स्थापना हो जाती है। उनका सिद्धान्त 'यातायात व्यवधान सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध है।

8. हेग (Hague)—आर. एम. हेग ने 1927 में निश्चित् किया था कि बड़े-बड़े नगरों मे जनसंख्या व उद्योगों का इतना अधिक जमाव क्यों पाया जाता है? जमाव वहाँ पर ही होता है, जहाँ पर माल कम दाम पर तैयार हो जाता है। सभी प्रकार के व्यापारिक कार्य नगरो में ही इसलिए विकसित हो जाते है क्योंकि यहाँ पर यातायात सस्ता पड़ता है। इस प्रकार हेग ने जमाव के अध्ययन को अधिक महत्व दिया।

9. इजार्ड (Issard)—डब्ल्यू इजार्ड ने 1956 में Location and Space Economy नामक पुस्तक मे बताया कि लॉश ने षटकोणीय प्रतिरूप को स्वीकार तो किया है लेकिन यह उसी के बताये अनुसार लागू होने की स्थिति में नहीं है। लॉश ने उपभोक्ताओं के समान वितरण की कल्पना की। लेकिन उसका प्रतिदर्श (माडल) इस बात का द्योतक है कि विभिन्न केन्द्रीय स्थानो पर कार्यों की संख्या मे काफी भिन्नता पाई जाती है। किसी केन्द्रीय स्थान मे यह कार्य अधिक और किसी मे कम मिल सकते है। जबकि यह बात निश्चित् रूप से देखने मे आती है कि उच्च-वर्ग के केन्द्रीय स्थान के चारो ओर उसके निकट के भाग में जनसंख्या का घनत्व अधिक होता है। व जैसे-जैसे हम इस केन्द्रीय स्थान से दूर जाते है। वैसे-वैसे यह घनत्व कम होता चला जाता है। अतः केन्द्रीय स्थान के निकट बाजार क्षेत्र का आकार छोटा होना चाहिए तथा दूरी बढ़ने के साथ साथ बाजार क्षेत्र का आकार बड़ा हो जाने से उसके रूप मे बिगाड़ हो जायेगा और यह सम-रेखीय प्रायत् विषमकोण समभुज-क्षेत्र के समान रूप ग्रहण कर लेंगे।

10. फिल्ब्रिक का समावेशी-पदानुक्रम सिद्धान्त (Nested Hierarchy Theory of Philbrick)—ए. के. फिल्ब्रिक ने 1957 में यू. एस. ए. के संदर्भ मे केन्द्रीय सेवा स्थानो के क्षेत्रीय वितरण के सिद्धान्त पर प्रकाश डाला। वे अमेरीकन भूगोलवेत्ता हैं। उनका Nested Hierarchy Theory तीन प्रमुख अभिगृहीतों को घेर कर प्रतिपादित किया गया है:—

1. विभिन्न व्यवसायों में अन्तर्सम्बन्ध—मानव के विभिन्न व्यवसायो में कृषि, पशुपालन, खनन, निर्माण उद्योग, व्यापार आदि में अन्तर्सम्बन्ध होता है। इनमें से कुछ अन्तर्सम्बन्ध एक समान क्षेत्रों के बीच होते हैं, जो व्यवसाय के विचार से एकरूपता रखते हैं। छोटे एक समान क्षेत्रों के उदाहरण में मक्का के खेत हैं।

यू. एस. ए. में मक्का पेटी जिसमें व्यवसाय की सैकड़ों इकाइयाँ व्यक्तिगत फार्मों की होती है।

2. नोडल क्षेत्र की उत्पत्ति—दूसरा अभिगृहित यह है कि व्यवसायों की इकाइयों के बीच दूसरे अन्तर्संम्बन्धों के द्वारा नोडल क्षेत्रों की उत्पत्ति होती है। एक नोडल क्षेत्र में कई भिन्न समांग क्षेत्र होते हैं जो नाभीय बिन्दु से जुड़े हुए होते हैं। छोटा नोडल क्षेत्र का एक उदाहरण एक अकेले फार्म से दिया जा सकता है जिसमें कई भिन्न प्रकार के खेत होते हैं परन्तु उनमें प्रत्येक क्षेत्र का एक समान क्षेत्र होता है। एक बड़ा नोडल क्षेत्र एक कस्बे का व्यापार क्षेत्र हो सकता है। इस प्रकार मानव के व्यवसाय नाभीय गुण रखने वाले होते हैं।

3. समावेशी पदानुक्रम का नोडल संगठन—व्यवसाय की इकाइयों का क्रम कार्य क्षेत्रों के एक समावेशी पदानुक्रम में होता है। यह पदानुक्रम एक समान सम्बन्ध से नोडल संगठन में परिवर्तित हो जाता है।

वर्ग संख्या	क्षेत्र प्रकार
7 (i) नोडल	—प्रथम नगर जैसे वृहत बम्बई, कलकत्ता
(ii) एक समान	—छठे वर्ग के समीपवर्ती नोडल क्षेत्र
6 (i) नोडल	—बड़े महानगर व व्यापारिक क्षेत्र कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली अपने व्यापार क्षेत्रों सहित
(ii) एक समान	—पाँचवें वर्ग के समीपवर्ती नोडल क्षेत्र
5	महानगर जैसे कानपुर, नागपुर, जयपुर, पटना
4	—बड़ा नगर जैसे इलाहाबाद, वाराणसी,
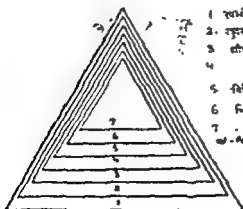
आदर्श सप्तपदीय पदानुक्रम

चित्र 6.17

आगरा
3 —मध्यनगर जैसे मेरठ, सहारनपुर, हापुड़
2 —कस्बा या सेवा केन्द्र
1 —गाव या फार्म

अतः पृथ्वी पर मानव व्यवसायों के सात वर्ग हो सकते है जिनमें से प्रत्येक दो प्रकार के अर्थात् नोडल व एक समान क्षेत्र होते हैं।

संक्षेप में केन्द्रीय स्थान को निम्नलिखित शब्दो मे समझा जा सकता है—

ऐसी स्थायी मानव बस्तियां या निर्माण, जहाँ पर सामाजिक, आर्थिक तरह की वस्तुओ, सेवाओं और आवश्यकताओ का विनिमय आधारभूत रूप से अस्थानीय या अकेन्द्रीय जनसंख्या के लिए किया जाता है और इसलिए अपरोक्ष रूप से समीप स्थित चारो ओर के घेरते हुए क्षेत्रों पर जिनका अपने प्रदेश के रूप मे अधिकार और नियन्त्रण रहता है, केन्द्र स्थल कहते है।

सेवा केन्द्रो के विषय में विभिन्न विद्वानों के विचार से यह स्पष्ट हो गया है कि सभी नगरीय वस्तियाँ उसमें निवास करने वाली जनता व चारो ओर के क्षेत्र के उस पर आश्रित रहने वाले व्यक्तियो के लिए एक व्यापारिक केन्द्र है। सामान्यतया प्रत्येक नगरीय बस्ती चाहे वह छोटी हो या बड़ी, उसका स्वय का व्यापारिक क्षेत्र होता है।

सेवा केन्द्रों का व्यवस्थित पदानुक्रम (Systematic Hierarchy of Service Centres)—यद्यपि सेवाकेन्द्रों के पदानुक्रम के विषय में विभिन्न विद्वानों के विचारो का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है परन्तु यहा पर सेवाकेन्द्रो के सामान्य पदानुक्रम पर एक दृष्टि डालना उपयुक्त रहेगा। प्रत्येक व्यापारिक क्षेत्र की विभिन्न रूपरेखाएँ व जटिलता आदि बाजार केन्द्र के आकार पर निर्भर करता है कि उसकी व्यापार में क्या भूमिका है? सभी बाजार केन्द्रों का एक निश्चित् क्रम होता है। प्रत्येक सेवाकेन्द्र अपने से छोटे केन्द्र से एक अलग विशेषता लिए हुए होता है। उसमें अपने से छोटे केन्द्र के गुण तो विद्यमान रहते हैं पर साथ ही साथ कुछ विशिष्टीकरण भी होता है। जैसे एक सेवाकेन्द्र है, उनको मिलाकर गाँव का निर्माण होता है। जिसमें कुछ छोटी बस्ती से अलग व अधिक विशेषता भी होती है। सभी गाँव मिलाकर कस्बा व कई कस्बे मिलकर नगर, कई नगर महानगर का निर्माण करते हैं। महानगर में सभी प्रकार की विशेषताएँ होनी हैं जो सबसे छोटी बस्ती से नगर तक में विद्यमान है। इन सब से अलग कुछ विशेषीकरण भी होता है।

आकार के अनुसार बस्तियों का पदानुक्रम—

1. छोटी बस्तियां एवं गांव
2. कस्बे

3. नगर

4. महानगर।

गाँव, कस्बा, नगर आदि के स्तर पर जो कार्य होते हैं वे यात्रा दूरियों (Travel distances) से किस प्रकार सम्बन्धित होते हैं इन बातों का अध्ययन भी भूगोलवेत्ताओं ने प्रस्तुत किया है। अमेरिकन भूगोलवेत्ता बेरी (B. J. L. Berry) का नाम इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'Geography of Market Centers and Retail Distribution' में इस विषय की विशद् व्याख्या की है और संयुक्त राज्य के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की बिक्री के क्षेत्र का अध्ययन बताता है कि परचून की बिक्री स्थानीय महत्व की है और इसकी सेवायें छोटे पैमाने पर होती हैं जिनके लिए उपभोक्ता लोग बहुत दूर की यात्रा पसन्द नहीं करते क्योंकि ऐसी वस्तुओं की बारम्बार माँग होती है और वस्तुओं का आयतन भी अधिक होता है। इसीलिए परचून केन्द्र बड़ी संख्या में सारे क्षेत्रों में बिखरे हुए पाये जाते हैं और इन केन्द्रों तक आने वाले उपभोक्ता खरीदारों के यात्रा-मार्गों की दूरियाँ भी छोटी-छोटी होती हैं।

वस्तुओं का बाजार क्षेत्र—किसी समदैशिक धरातल में वस्तु के बाजार क्षेत्र को निश्चित करने वाले चार मुख्य कारक होते हैं—(अ) बेचा जाने वाला माल, (आ) माल का मूल्य, (इ) उपभोक्ता द्वारा चल कर आने-जाने की दूरी, (ई) दूरी की प्रति इकाई परिवहन लागत। इस प्रकार उपभोक्ता द्वारा दिया जाने वाला किसी वस्तु का मूल्य निम्नलिखित प्रकार से होगा—

$$P = p + kt$$

जहाँ

P = उपभोक्ता द्वारा दिया जाने वाला मूल्य;

p = विक्रेता द्वारा प्राप्त किया गया मूल्य;

k = उपभोक्ता द्वारा आने-जाने में तय की गई दूरी,

t = दूरी की प्रति इकाई परिवहन लागत,

यहाँ पर यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि कुछ वस्तुओं के मूल्य में परिवहन-लागत को उत्पादन-कर्ता द्वारा शुरू में ही जोड़ दिया जाता है जिस कारण ऐसी वस्तुओं का मूल्य सभी क्षेत्रों में समान रहता है, जबकि दूसरी ऐसी वस्तुयें भी होती हैं जिनमें परिवहन लागत उपभोक्ता को ही वहन करनी पड़ती है। अतः उपभोक्ता अपनी माँग तथा बजट के अनुसार ही ऐसी वस्तुयें खरीदने का प्रयास करता है। परिवहन अध्याय के अन्तर्गत इन स्थितियों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

केन्द्रीय स्थानों, सेवा केन्द्रों या बाजार केन्द्रों के उपर्युक्त विवेचन के साथ-साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इनसे थोड़ी भिन्न स्थिति रखने वाले

बन्दरगाह भी व्यापारिक क्रिया-कलापों के केन्द्र होते हैं। अतः थोड़ी बहुत जानकारी उनके विषय में भी होनी चाहिए।

बन्दरगाह तथा पृष्ठ प्रदेश—व्यापार में बन्दरगाहों व उसके पृष्ठ प्रदेशों का महत्वपूर्ण स्थान है। बन्दरगाह वह स्थान होता है जो जल या थल के पार्थिव परिवहन के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। यह स्थान देश के द्वार मार्ग का कार्य करता है, जिसके द्वारा देश का विदेशी व्यापार होता है। इसका सम्बन्ध रेलमार्गों, सड़कों, स्थलीय जलमार्गों के द्वारा अपने पृष्ठ प्रदेश से होता है। जिसके आवश्यकता से अधिक उत्पादन विदेशों को निर्यात होने के लिए उस बन्दरगाह पर आते हैं। बन्दरगाह एक ऐसा बिन्दु है, जहाँ परिवहन के साधनों का परिवर्तन होता है प्रत्येक बन्दरगाह एकत्रीकरण केन्द्र होने के साथ-साथ वितरण केन्द्र भी होता है।

जितने क्षेत्र पर किसी बन्दरगाह का प्रभाव होता है अर्थात् जितने क्षेत्र से प्राप्त उत्पादित मालों में वह बन्दरगाह विदेशों को निर्यात करता है तथा विदेशों से लाए हुए आयात माल को उस क्षेत्र में वितरित करता है। वह क्षेत्र उस बन्दरगाह का पृष्ठ प्रदेश होता है। पृष्ठ प्रदेश व्यापारिक केन्द्र से इस कारण भिन्न रहता है कि पृष्ठ प्रदेश आयातित व निर्यातित पदार्थों का उपभोग व वितरण करता है। कई बन्दरगाह बाजार केन्द्र व व्यापारिक केन्द्र दोनों होते हैं।

सतत और विखण्डित पृष्ठ प्रदेश—जिस प्रकार व्यापार केन्द्रों का सतत व्यापार क्षेत्र होता है, उसी प्रकार बन्दरगाहों के भी सतत व विखण्डित पृष्ठ प्रदेश होते हैं। सतत पृष्ठ प्रदेशों को बन्दरगाहों के आस-पास के क्षेत्रों के रूप में आसानी से पहचाना जा सकता है। किन्तु विखण्डित पृष्ठ प्रदेश वलयाकार रूप में दूर-दराज तक फैले होते हैं। इन प्रदेशों पर किसी एक बन्दरगाह का एकाधिकार नहीं होता है। अधिक विस्तार वाले देशों के आन्तरिक भाग इस प्रकार के पृष्ठ प्रदेश होते हैं। जैसे प्रायद्वीपीय भारत का मध्यवर्ती भाग, रूस का यूराल प्रदेश, संयुक्त राज्य अमेरिका का मध्यवर्ती पश्चिमी भाग आदि।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (International Trade)

विभिन्न देशों के बीच होने वाला व्यापार देश में होने वाले व्यापार से कहीं अधिक पूर्णता से जाना जाता है क्योंकि इनके ही आँकड़े समय-समय पर प्रकाशित होते रहते हैं। यह विदेशी व्यापार कार्यात्मक रूप से देशी व्यापार के समान ही संगठित होता है परन्तु इसका स्तर उच्च होता है। विदेशी व्यापार का केन्द्र बिन्दु तकनीकी दृष्टि से समृद्ध राष्ट्र है। विशेष रूप से सक्रिय क्षेत्र उत्तर पश्चिमी यूरोप, पूर्वी उत्तरी अमरीका है जो एक-दूसरे से तथा विश्व के अन्य देशों से व्यापार मार्गों द्वारा जुड़े हुए ।

पृष्ठ भूमि—विभिन्न देशों में व्यापार बहुत पहले से होता चला आ रहा

है। पहले व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से व्यापार होते थे। आधुनिक विश्व व्यापार की विश्व स्तर पर वितरण पद्धति एक शताब्दी से अधिक पुरानी नहीं है। यह शताब्दी तीन युगों में विभाजित की जा सकती है—

(1) 1865–1914 प्रारम्भिक काल—इस युग में विश्व स्तर पर वास्तविक व्यापार प्रारम्भ हुआ। इस युग में पश्चिमी यूरोप द्वारा राजनीतिक उपनिवेशीकरण किया जा चुका था। क्योंकि औद्योगिक क्रान्ति होने से ये देश बहुत आगे निकल चुके थे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विश्व स्तर पर फैला। यह 1867–1914 के बीच तेजी से लगभग अरब डालर तक पहुँच गया।

(2) 1915 से 1939 का मध्य काल—द्वितीय युग दो महायुद्धों के बीच का काल है। यह स्थिरता व अस्थिरता दोनों का युग कहा जा सकता है। 1929 तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तेजी से बढ़ा तथा 1930 तक के वर्षों में तेजी से घटा। 1930 के अन्त में फिर से बढ़ गया। यह वृद्धि अरब डालर प्रतिवर्ष थी।

(3) 1940 से अब तक का आधुनिक काल—तृतीय युग फिर से अस्थिरता का युग हुआ क्योंकि व्यापारिक केन्द्र के देश युद्ध से हुई क्षति से जूझने में लगे हुए थे। राजनीतिक व आर्थिक उपनिवेशीकरण हुए तथा विभिन्न नए छोटे राजनीतिक दृष्टि से निर्भर देशों का उदय हुआ। आज तक भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में एकदम अलग-थलग देश को नहीं ढूँढा जा सकता। केन्द्रीय अर्थव्यवस्थाएँ एक शक्तिशाली राष्ट्रीय देशों के रूप में उठी। इन सबमें महत्वपूर्ण यह है कि यूरोपीय आर्थिक समुदाय व यूरोपीय स्वतन्त्र व्यापार संघ जैसे संघों की स्थापना हुई तथा 1970 के प्रारम्भ में दोनों मिलकर एक हो गए। इन शक्तियों के परिवर्तन के कारण 1970 में विश्व व्यापार में वृद्धि हुई, यह 1938 से 12 गुना अधिक हो गया।

संरचना—मूल्य द्वारा गणना किए जाने से आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार 6 विभागों में बाँटा जा सकता है—

1. विविध निर्माण उद्योग समूह—ये कुल व्यापार का लगभग $\frac{1}{4}$ भाग होता है।

2. मशीनों व परिवहन के साधनों के निर्माण उद्योग—ये कुल व्यापार का लगभग $\frac{1}{4}$ भाग होता है।

3. भोजन, पेय पदार्थ, तम्बाकू आदि $\frac{1}{6}$ भाग

4. ईंधन $\frac{1}{7}$ भाग

5. खनिज ईंधन व इससे सम्बन्धित पदार्थ = $\frac{1}{10}$ भाग

6. रासायनिक पदार्थ समूह

यदि हमारा माप का आधार मूल्य के स्थान पर मात्रा या भार हो जाय तो हमारे क्रम में ईंधन, खनिज ईंधन, भोजन, पेय पदार्थ एवं तम्बाकू, सभी

प्राथमिक व्यवसायों के उत्पादनो का मूल्य निर्मित पदार्थों की अपेक्षा उच्च प्रतिशत होगा।

प्रारूप--विकसित अर्थव्यवस्थाओं ने विश्व व्यापार आयात व निर्यात दोनों के 70% पर अधिकार किया हुआ है। कम विकसित देश व अकेन्द्रीयकृत अर्थव्यवस्थाओं का 18% भाग पर व केन्द्रीयकृत अर्थव्यवस्थाओं का शेष हिस्सा है, यूरोपियन सामान्य बाजार का निःसदेह आयात-निर्यात के $\frac{1}{3}$ भाग पर अधिकार है तथा आयात मे भी ऊँचा स्थान है। जापान, कनाडा, सोवियत संघ 5% भाग पर अधिकार किए हुए है।

व्यापार पर सरकार की नीति का प्रभाव

किसी देश के व्यापार में स्थिति उसकी सरकार की नीति से निश्चित होती है। यदि किसी देश की नीति सभी देशों के प्रति सद्भाव की है, व्यापार के क्षेत्र मे स्वतन्त्र नीति है, वह व्यापार को प्रोत्साहन देने वाला देश है तो उस देश का विश्व बाजार मे अच्छा स्थान हो सकता है। इसके विपरीत किसी देश की नीति रक्षणात्मक हो तो वह व्यापार मे पिछड़ा रहेगा। सरकार द्वारा व्यापार की यातायात कर-सूची द्वारा प्रभावित किया जाता है। अन्य कारण कोटा विनिमय नियन्त्रण, क्षतिपूर्ति व व्यापारिक समझौते है जिनके द्वारा सरकार व्यापार पर नियन्त्रण रखती है।

यदि कई देशों की सरकारें समान व्यापारिक हित के लिए संगठित हो जाय तो भी व्यापार में वृद्धि हो सकती है। जैसे 1 जनवरी, 1948 की General Agreement on Tarrifs and Trade (G A T T) 1947 मे आर्थिक सहअस्तित्व व विकास संगठन, यूरोपियन आर्थिक समुदाय आदि संगठन यह स्पष्ट करते हैं कि सहयोग द्वारा ही विकास सम्भव है। छोटे पैमाने पर लेटिन अमेरिकी संगठन आदि संगठित हुए है जो निरन्तर अपने अभियान में सफल हो रहे हैं।

व्यापार की माप---व्यापार सन्तुलन होने पर ही कोई देश हानि से बच सकता है। यदि कोई देश निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक करता है तो उसका व्यापार सतुलन सही नहीं और यदि कोई देश आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक करता है तो उस देश की अर्थव्यवस्था सुदृढ़ होगी। क्योंकि इसके द्वारा विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सकती है।

व्यापार और उसका भविष्य

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार न केवल सम्बन्ध स्थापित करने का साधन मात्र है अपितु जीवन-यापन का साधन भी है। यह अनुमान लगाया गया है कि श्रम शक्ति का 10% भाग इसमें संलग्न है। अधिक घुसत वाणिज्यिक राज्यों मे यह प्रतिशत

20 भी है। यह विश्व के प्राथमिक व्यवसायों में लिए हुए व्यक्तियों को भी समर्थन या सहायता देता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आजकल यह प्रवृत्ति विकसित हो गई है कि कम विकसित देश इस व्यापार द्वारा अनुचित लाभ नहीं उठा पा रहे हैं। क्योंकि ये देश अभी पूर्णतः विकसित नहीं। परिणामस्वरूप जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु विकसित राष्ट्रों से आयात करते हैं। इसके बदले उन्हें कच्चा माल निर्यात करना पड़ता है। कच्चे माल का मूल्य उन्हें निर्मित माल की अपेक्षा कम मिलता है। इसलिए निर्मित माल के मूल्य और बढ़ जाते हैं। अतः उन देशों में व्यापार सन्तुलन ठीक नहीं रहता। वे और निर्धन से निर्धनतम होते जा रहे हैं। इन दोनों समूह में अन्तर निरन्तर बढ़ता जा रहा है। यही कारण है कि विश्व में प्रति व्यक्ति आय में इतनी भिन्नता पाई जाती है।

□□□

7. परिवहन
(Transportation)

तृतीयक व्यवसायों में परिवहन का महत्वपूर्ण स्थान है। समस्त आर्थिक-क्रियायें परिवहन गतिशीलता पर ही आधारित हैं। आज के तकनीकी रूप से विकसित युग में उपभोग, उत्पादन व व्यापार की मात्रा या इनका विकास तब तक अपंग है जब तक कि परिवहन व संचार के साधनों का विकास नहीं हुआ हो। परिवहन से तात्पर्य व्यक्तियों एवं वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाना है। स्थानान्तरण द्वारा वस्तुओं अथवा व्यक्तियों की उपयोगिता में वृद्धि होती है। परिवहन के साधनों को उद्योग एवं व्यापार की रक्त वाहनी नालियाँ कहा गया है। क्योंकि जिस प्रकार मानव शरीर में रक्त का परिसंचरण धमनियों व शिराओं द्वारा होता है उसी प्रकार धरातल पर बिछे हुए परिवहन मार्गों के जाल से समस्त आर्थिक क्रिया-कलाप सम्पन्न होते हैं। व्यावसायिक तथा औद्योगिक उन्नति के लिए परिवहन की सुविधायें नितान्त आवश्यक हैं। व्यापार भी परिवहन की सुविधाओं पर ही निर्भर करता है। परिवहन का जन्म गतिशीलता के कारण होता है।

एक गति प्रणाली
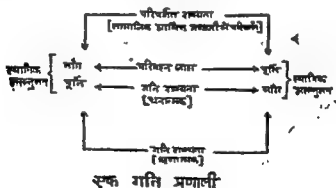
चित्र 7·1

गतिशीलता के कारण

मानवीय गतिशीलता निम्नलिखित कारणों के परिणामस्वरूप होती है—

(1) किसी स्थान की अन्य स्थानों से भिन्न स्थिति।

(2) विशेषीकरण व समूहीकरण का प्रभाव।

(3) आर्थिक संसाधनों का किन्हीं विशेष स्थानों पर ही पाया जाना।

(4) संसाधनों पर सापेक्षिक पहुँच की स्थिति का प्रभाव

(5) राजनीतिक सम्बंध।

(6) आर्थिक स्थिति एवं विकास।

परिवहन की विवेचना के क्रम में उपर्युक्त सभी कारणों को निम्नलिखित प्रकार से भली-भाँति समझा जा सकता है—

1. क्षेत्र व समय उपयोगिता—उपयोगिता किसी सेवा या क्रिया कलाप की मानवीय इच्छा को संतुष्ट करने की योग्यता है।

स्थान उपयोगिता से तात्पर्य परिवहन द्वारा किसी क्षेत्र या स्थान को दूसरे अधिक उपयोगी स्थान से किसी आर्थिक क्रिया-कलाप द्वारा परिवर्तित करना है। उदाहरण के लिए दामोदर घाटी में कोयले के भण्डार हैं। परन्तु उनकी उपयोगिता तब तक नहीं है जब तक कि उनका उपयोग करने के लिए परिवहन द्वारा उन्हें मांग के स्थलों से जोड़ा नहीं जाय। इसी प्रकार कुवैत में विश्व का लगभग 13% तेल भण्डार है परन्तु उस तेल की उपयोगिता तो वहीं है, जहाँ वाहनों की संख्या अधिक है।

परिवहन मानवीय इच्छा को सन्तुष्ट करने हेतु इसलिए आवश्यक है कि यह न केवल वस्तुओं को उन स्थानों पर उपलब्ध कराता है जहाँ उनकी आवश्यकता है। बल्कि यह भी करता है कि उनकी जब आवश्यकता है। कई उत्पादनों का जीवन काल कम होता है। अतः ताजा माल के निरन्तर वितरण के लिए परिवहन की आवश्यकता होती है। भोज्य पदार्थों की समय उपयोगिता अधिक होती है। विशेष रूप से उन निर्धन देशों में जहाँ शीतमन का अधिक विकास नहीं हो पाया है।

2. परिपूरकता—परिपूरकता, मध्यवर्ती, आपूर्ति स्रोत, विनिमयशीलता इन तीनों कारणों का परिचय भूगोल में उल्मान (Ullman) ने किया पृथ्वी तल पर विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। परिणामस्वरूप गतिशीलता उत्पन्न होती है। किसी स्थान पर मांग होती है तथा किसी अन्य स्थान से उसकी पूर्ति की जाती है। इस गति के लिए इन दो स्थानों पर होना आवश्यक है। इस मांग व पूर्ति की प्रक्रिया को स्थानिक परिपूरकता (Local demand) कहते हैं।

नगरीय औद्योगिक प्रदेश व ग्रामीण कृषि प्रदेशों में यह व्युत्क्रमीय सम्बन्ध (inverice ratio) पाया जाता है। ये दोनों इस परिपूरकता पर ही आधारित हैं। ये एक दूसरे को आदान-प्रदान करके अपनी मांग की पूर्ति करते हैं। इसी प्रकार तकनीकी रूप से विकसित व अविकसित देशों में निर्मित उद्योग की वस्तुओं का

व्यापार होता है। जैसे–मलाया से रबर इंग्लैंड व यूरोपीय देशों को कच्चे माल के रूप में भेजा जाता है तथा निर्मित सामग्री इंग्लैंड तथा यूरोपीय देशों से विश्व के अन्य देशों को भेजी जाती है। अतः परिपूरकता अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व मानवीय गति के लिए मौलिक आवश्यकता है।

3. मध्यवर्ती आपूर्ति स्रोत––यह वह स्थिति है जिसमें दो स्थलों के बीच के मांग व पूर्ति के सम्बन्धों को तीसरे किसी अन्य क्षेत्र अथवा केन्द्र द्वारा वैकल्पिक सुविधा प्रदान की जाती है और ऐसी स्थिति में इन दो क्षेत्रों के बीच यह स्थान मध्यवर्ती आपूर्ति स्रोत के नाम से पुकारा जाता है। उदाहरण के लिए किसी छोटे कस्बे के निवासियों को उच्च शिक्षा प्राप्ति हेतु किसी बड़े नगर में जाना पड़ता है। यदि उस कस्बे में ही उच्च शिक्षा केन्द्र खुल जाये तो उस बड़े शहर की ओर गतिशीलता कम हो जायगी।

यह प्रतिदर्श सर्वप्रथम एक समाजशास्त्री सैम्युअल स्टाउफर (Samuel Stouffer) द्वारा प्रतिपादित किया गया। इन्होंने इसका प्रयोग संयुक्त राज्य में देशान्तर गमन के अध्ययन के लिए किया। इन्होंने इस बात पर जोर दिया कि स्थानान्तरण व दूरी के बीच कोई निश्चयात्मक सम्बन्ध नहीं है। उन्होंने कहा कि गमन करने वाले व्यक्तियों की संख्या किसी दूरी पर जनसंख्या, आकार व दूरी के अनुक्रमानुपाती होती है। यह निम्नलिखित सूत्र द्वारा ज्ञात किया जा सकता है—

$$M = K\frac{\Delta x}{x}$$

जहां

M = गमन करने वाले व्यक्तियों की संख्या

Δx = किसी दूरी पर मिलने वाले अवसरों की संख्या

x = उत्पत्ति स्थल व Δx के बीच मिलने वाले मध्यवर्ती अवसरों की संख्या।

यदि मिलने वाले मध्यवर्ती अवसरों को केन्द्रीय वृत्तों द्वारा दर्शाया जाय तो इस प्रकार का स्वरूप होगा। इसमें अ गमन स्थल से x0 तक कई मध्यवर्ती अवसर दिखाये गये हैं।
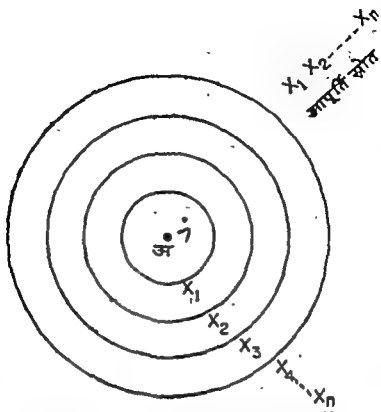
चित्र 7.2

4. विनिमय-शीलता—वह वस्तु, जो गतिशीलता से सम्बन्धित है, दो स्थानों के बीच परिवहित होने योग्य होनी चाहिए। विभिन्न वस्तुओं की अलग-अलग विनिमय-शीलता होती है। परिवहन क्षमता वस्तु के मूल्य से सम्बन्धित है। हीरा कीमती वस्तु है। अतः इनका परिवहन अत्यन्त सावधानीपूर्वक व अधिक परिवहन मूल्य में होता है जबकि मिट्टी की विनिमय-शीलता कम है, यह सभी स्थानों पर उपलब्ध हो जाती है।

5. राजनीतिक सम्बन्ध एवं आर्थिक कारण—गतिशीलता पर किसी देश की राजनीतिक स्थिति का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। किसी देश की नीति मुक्त व्यापार की होती है जबकि अन्य की नहीं। ऐसे देश में गतिशीलता न्यून मात्रा में होती है। इसी प्रकार किसी देश की आर्थिक स्थिति भी गतिशीलता की मात्रा को नियन्त्रित करती है।

दूरी—परिवहन के सन्दर्भ में दूरी तत्व का अनेकों बार उल्लेख किया जाता है। अतः यह आवश्यक है कि इसके विषय में कुछ जानकारी कर ली जाय। जैसे दूरी क्या है? कितने प्रकार से इसे मापा जा सकता है? या दूरी से कार्यों या सेवाओं पर क्या प्रभाव पड़ता है? आदि।

दूरी से तात्पर्य भौगोलिक धरातल पर पाए जाने वाले किन्हीं दो स्थानों के बीच के स्थान से है दूरी की माप निम्न प्रकारों से की जा सकती है—

(1) भौतिक माप—दूरी को नापने के लिए प्रत्येक देश में अलग-अलग माप पद्धति है। जैसे—प्राचीन भारत में योजन थी, अब मीटर है, ब्रिटेन में मील, गज फीट है।

(2) समय-माप—एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु के बीच दूरी को समय के द्वारा भी बतलाया जाता है। आज के युग में व्यस्तता बढ जाने से समय का अत्यधिक महत्व है।

केन्द्रीय व्यापार क्षेत्र [C.B.D.] से सम-समय रेखाएँ [ISOCHRONES]

चित्र 7.3

उपरोक्त चित्र में (अ) दिन के समय के व्यस्ततम घण्टों की सम-समय रेखाएँ अंकित की गई है जो कि पास-पास स्थित हैं। लेकिन ब में साधारण समय की सम-समय रेखाएँ दूर-दूर दिखाई पड़ती हैं।

(3) आर्थिक माप—कई व्यक्ति समय तत्व को महत्व न देकर अर्थ को अधिक महत्व देते है। इसलिए दूरी का मापन इस प्रकार भी किया जाता है।

चित्र 7.4
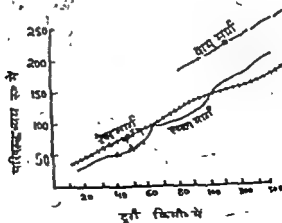
सभी देशों में इनकी अलग-अलग दर होती है व परिवहन माध्यम में परिवर्तन के साथ-साथ ही उसमें अन्तर आ जाता है।

(4) अनुभूतिमाप— मानव एक चेतन प्राणी है। उसे भावनाएँ संचालित करती है। इसी भावना से प्रभावित होकर वह दूरी को उपेक्षित कर सकता है जैसा कि चित्र से स्पष्ट है कि क व्यक्ति का भावनात्मक सम्बन्ध ब से है। अतः वह दूरी तत्व के प्रभाव को नगण्य मानकर वहीं पर जायेगा। अनुभूति द्वारा उसे वह दूरी कम प्रतीत होती है।

दूरी की अनुभूति माप

क
ख
ब

चित्र 7.5

दूरी और क्रिया-कलापों में शिथिलता (दूरी-कार्य-क्षय)
(Distance Decay Function)

सैद्धान्तिक आर्थिक भूगोल में दूरी—कार्य क्षय का विश्लेषण मौलिक विचारधारा है क्योंकि हम यह भी जानते हैं कि 'दूरी' भूगोल की मौलिक संकल्पना है। दूरी कार्य क्षय (दूरी बढ़ने के साथ क्रिया—कलापों में शिथिलता) द्वारा यह सम्बन्ध ज्ञात होता है कि जैसे—जैसे दूरी बढ़ती जाती है। वस्तु का महत्व या उपयोग कम होता जाता है। यह बात अलग है कि कुछ मामलों में यह आवश्यक नहीं की यह सिद्धान्त सही सिद्ध हो। कई चर (Variables) ऐसे भी होते हैं जिन पर दूरी का प्रभाव नहीं पड़ता या कि दूरी बढ़ने से उनके उपयोग या मूल्य में कमी नहीं होती है। यह सम्बन्ध इस बात पर निर्भर करता है कि हम किसका मापन कर रहे हैं। परन्तु अधिकांशतः सामान्य स्थिति में वस्तु मूल्य तथा उपयोग दूरी के अनुसार घटता है। अतः दूरी-कार्य-क्षय सम्बन्धी विचार क्रिया-कलापों की बारम्बारता तथा दूरी के बीच के अनुपात को प्रदर्शित करता है।

यदि निवास स्थान (घर) को केन्द्र माना जाय और शहर में स्थित विभिन्न स्थानों की दूरी ज्ञात कर ली जाय फिर क्षैतिज अक्ष पर दूरी अंकित की जाय और लम्बवत अक्ष पर किसी व्यक्ति द्वारा विभिन्न स्थानों तक लगाये जाने वाले चक्करों को अंकित किया जाय तो स्पष्ट होगा कि दूरी बढ़ने पर चक्करों की संख्या कम होती गई है। इस प्रकार के क्षय को एकरस ह्रास प्रवृत्ति कहते हैं।

एकरस ह्रास प्रवृत्ति सभी मामलों मे सरलतम है। इसको दर्शाने वाली रेखा का ढाल समान है। अतः जिस चर को हमने मापक माना है। वह दूरी द्वारा क्रमिक रूप से प्रभावित होता है। अर्थात् यदि कार्य क्षय का ढाल बहुत तेज है तो स्पष्ट है कि चर दूरी द्वारा अधिक प्रभावित है। वक्र रेखा का ढाल तेज है तो चर पर दूरी के अनुसार अधिक परिवर्तन होता है। अतः वह चर दूरी के सन्दर्भ मे अधिक प्रत्यास्थ है।

यह एकरस ह्रास प्रवृत्ति प्रत्यास्थ व अप्रत्यास्थ दोनों स्थितियों मे दूरी एवं स्थानिक चर से सम्बन्ध को दर्शाने वाले एक भौगोलिक प्रतिदर्श का निर्माण करता है। इस प्रतिदर्श को अधिक सुग्राह्य बनाने के लिए निम्नलिखित कल्पनाएँ करनी पड़ती है—

(1) प्रथम तो यह कि उत्पत्ति बिन्दु जो कि हमने दूरी-क्षय-वक्र रेखा में उत्पत्ति स्थान माना है, वह पृथक है या उस पर चर का स्थानिक वितरण द्वारा बहुत कम प्रभाव पड़ता है।

(2) द्वितीय यह कि धरातल जिस पर कि चर वितरित है, सरलीकृत धरातल है।
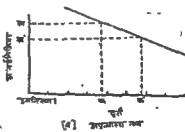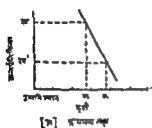
दूरी वृद्धि के साथ-साथ क्रियाकलापों में कमी

चित्र : 7.6

आरेख अ में चर प्रत्यास्थ है तथा आरेख ब मे अप्रत्यास्थ है। यह स्पष्ट करता है कि क से क¹ दूरी बढ़ने पर वस्तु का मूल्य एकदम घट जाता है। जबकि अप्रत्यास्थ चर होने से वस्तु मूल्य मे अधिक परिवर्तन नहीं आ पाता।

दूरी मे परिवर्तन के प्रभाव को हम मूल्य व मात्रा गति परिवर्तन द्वारा भी ज्ञात कर सकते हैं। अन्तर्प्रतिक्रिया समय में कमी होने से सभी समय बजट में कमी हो जायेगी और परिवहन व्यय सभी दूरियों पर होने वाली अन्तप्रतिक्रिया में कम हो जायेगा। अन्तर्प्रतिक्रिया मूल्य मे कमी से परिवहन व्यय अर्थ–बजट को कम कर देगा तथा सभी दूरियों पर होने वाली अन्तर्प्रतिक्रिया में वृद्धि हो जायेगी। यह तथ्य निम्नलिखित आरेख मे स्पष्ट रूप से समझाया गया है—
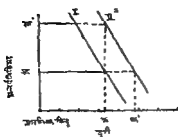
मात्रा समय या यात्रा लागत का अन्तर्प्रतिक्रिया पर प्रभाव

चित्र : 7.7

आरेख द्वारा प्रदर्शित करने के पश्चात् हम कह सकते है कि परिवहन की गति मे तेजी आ जाने से तथा परिवहन व्यय की दर कम हो जाने से अधिक दूरी तक आने जाने लगते है। फलस्वरूप अन्तर्प्रतिक्रिया बढ जाती है। प्रत्यास्थ और अप्रत्यास्थ तत्वो के लिए भी इन स्थितियों को आरेखों द्वारा स्पष्ट किया गया है।
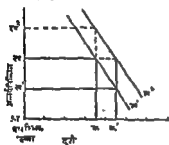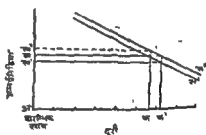
परिवहन मूल्य की कमी का प्रभाव

चित्र : 7.8

अ में चर उच्च प्रत्यास्थ गुणों वाला है। अन्तर्प्रतिक्रिया की मात्रा क दूरी पर ख है। परिवहन मूल्य में स¹ से म² परिवर्तन किए जाने म स्तर पर अन्तर्प्रतिक्रिया की मात्रा दूरी में क से क¹ बढ गई। हम यह कह सकते हैं कि परिवहन मूल्य में कमी किए जाने से पूर्व क¹ दूरी पर अन्तर्प्रतिक्रिया ख¹ थी। परन्तु उसके पश्चात् अन्तर्प्रतिक्रिया की मात्रा अ क¹ दूरी पर ख¹ से ख हो गई। आरेख ब चर की प्रत्यास्थता कम है। अतः यह दूरी परिवर्तन से अप्रभावित रहता है। अन्तर्प्रतिक्रिया मूल्य में कमी होने से कोई अ बिन्दु से क¹ तक उसी मूल्य में जा सकता है जिस पर कि वह क तक जाता था। मूल्य में कमी करने से पूर्व क¹ पर अन्तर्प्रतिक्रिया ख¹ थी। बाद में यह ख तक बढ़ गई। इसी प्रकार क दूरी पर अन्तर्प्रतिक्रिया ख से बढ़कर ख² हो गई।

दूरी-कार्य-क्षय के कारण

दूरी के बढ़ने से वस्तु मूल्य या उपयोग में कमी के कई कारण हैं। इन्हें हम दो भागों में बाँट सकते हैं—

(अ) आर्थिक कारण—इन कारणों को भी हम दो भागों में बाँट सकते हैं—(1) बढ़ती हुई दूरी की धन के सन्दर्भ में लागत (2) बढ़ती हुई दूरी की समय के सन्दर्भ में लागत।

ये दोनों दूरी बढ़ने के साथ-साथ ही बढ़ते है एवं ये किसी भी वस्तु के उपयोग के लिए सीमित है। यदि किसी स्थान से अन्तर्प्रतिक्रिया की लागत बढ़ती जाती है तो वस्तु का मूल्य या उपयोग घट जाता है। इसी प्रकार यदि किसी स्थान से अन्तर्प्रतिक्रिया में समय में वृद्धि हो जाती है तो घर का मूल्य भी घट जाता है। ये दोनों कारक ही दूरी-कार्य-क्षय को प्रभावित करते है। यदि किसी व्यक्ति के पास पर्याप्त आर्थिक सुविधा हो कि दूर बढ़ने पर भी वह अन्तर्प्रतिक्रिया कर सके तो उसका समय उसे प्रभावित करेगा। इसके विपरीत समय पर्याप्त होने पर उसे धन के अभाव में अन्तर्प्रतिक्रिया में कमी करनी पड़ेगी।

(ब) अनार्थिक कारण—अधिकांशतया दूरी के बढ़ने से कार्यों में कमी आर्थिक कारणों के परिणामस्वरूप आती है। परन्तु इनके अतिरिक्त और भी कई कारक हैं जो कार्य-क्षय के लिए उत्तरदायी है। उदाहरण के लिए यदि हम संयुक्त राज्य अमेरिका के किसी मुख्य नगर में देश के अन्य भागों से आने वाले पत्रों का ध्यान रखें तो हम यह देखेंगे कि अधिक पत्र कम दूरी के स्थानों से आते हैं। इसमें दूरी बढ़ने से कार्य में कमी आने का प्रमुख कारण स्थानों का आकार है। जबकि इस स्थिति में आर्थिक कारक गतिहीन है। डाक दर सभी दूरियों के लिए समान है।

हम अपने शहर में रहने वाले अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा पास में रहने वाले व्यक्तियों के विषय में अधिक जानते हैं। जिस नगर में हम रहते हैं, उसमें निवास करने वाले व्यक्तियों को हम अन्य शहर में रहने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक जानते हैं। अतः यहाँ दूर के स्थानों के विषय में ज्ञान में कमी के कारण दूरी बढ़ने से कार्यों में कमी आई है।

किसी स्थल से किसी निश्चित दूरी तक जाने पर बीच में कई ऐसे स्थान मिल जाते हैं जहाँ अपनी इच्छित वस्तु की हमें प्राप्ति हो जाती है। फिर हम उसके लिए ज्यादा दूर नहीं जाते। इन मध्यवर्ती अवसरों की संख्या बढ़ते जाने पर व्यक्ति अधिक दूर जाने की अपेक्षा पास से ही उस वस्तु को लेना अधिक पसन्द करेंगे। यहाँ पर दूरी बढ़ने के कारण अन्य स्रोत की प्राप्ति से उस वस्तु या कार्य प्रभाव क्षेत्र में क्षति हुई।

परिवहन मार्गों के जालों की स्थिति व उनकी लागत (व्यय)

सैद्धान्तिक अध्ययन के लिए किसी कल्पित सरलीकृत भू-दृश्यावली में यह माना जाता है कि—

(1) भूतल समतल है और इसमें किसी भी दिशा में आवागमन में कोई बाधा नहीं है।

(2) परिवहन व्यय माल के भार के अनुपात में बढ़ता है। इस स्थिति में दो प्रकार के मार्ग हो सकते हैं—

(अ) सीधी रेखा वाला छोटा मार्ग—सीधी रेखा में छोटा मार्ग निम्नांकित रेखाचित्र में दिखाया गया है—
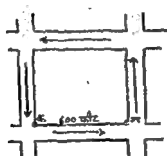
एक-तरफा रास्ते में दो बिन्दुओं के मध्य दूरी

चित्र 7.9

इसमें ख से क केन्द्र की दूरी 600 फीट है। परन्तु एक तरफा मार्ग होने से j से i की दूरी 1800 फीट है।

(ब) सीधी रेखा न होकर भी छोटा मार्ग—निम्नांकित चित्र में सीधी रेखा के द्वारा नहीं बल्कि टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं द्वारा मार्ग को दिखाया गया है—

चित्र : 7.10→
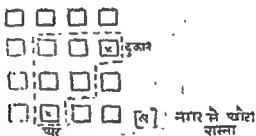
परन्तु वास्तविक धरातल पर ऐसा नही पाया जाता।

स्थिति सम्बन्धी विवेचन

परिवहन मार्गों पर विभिन्न कारकों जैसे--प्राकृतिक कारक, मानवीय कारक, राजनीतिक कारक आदि का प्रभाव पड़ता है। इन सबसे प्रभावित जो परिवहन मार्गों व जालों का निर्माण होता है, वह इस प्रकार है--

(1) सामान्य गतिशीलता--इस प्रकार के प्रारूप में परिवहन मार्ग प्रारम्भिक रूप में रहते हैं। इनकी उत्पत्ति माँग व पूर्ति के अनुसार होती है। इन्हे दो भागों में विभाजित किया जा सकता है--(1) परिवहन सम्बन्धी वाहन जैसे-बसें, ट्रक, कार आदि।

(2) निश्चित मार्ग जिन पर ये वाहन चलते हैं।
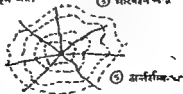
चित्र : 7.11

परिवहन मार्गों का जन्म

(2) परिवहन मार्गों का जाल—इस अवस्था में परिवहन मार्गों का जनता की निरन्तर बढ़ती मांग व सुविधाओं के अनुसार विकास होता रहता है तथा मांग व पूर्ति स्थलों के बीच विभिन्न मध्यवर्ती अवसरों के विकसित होने से नवीन मार्गों का जन्म होता रहता है।

(3) परिवहन मार्गों के मिलन केन्द्र—इस अवस्था तक पहुँचने पर धरातल पर परिवहन जाल बिछ चुका होता है। परिवहन मार्गों के विकसित होने से विभिन्न मिलन केन्द्रो पर विशेषीकरण हो जाता है। अतः वे परिवहन मार्गों में प्रमुख भूमिका निभाना प्रारम्भ कर देते हैं।

(4) मिलन केन्द्रों का पदानुक्रम—इन केन्द्रों का भी और अधिक विकसित अवस्था में पहुँचने पर एक निश्चित पदानुक्रम बन जाता है। जो स्थान अधिक मार्गों का मिलन स्थल होगा, उसका उतना ही ऊँचा क्रम होगा।

(5) परिवहन प्रवाह का परिमाण—इससे तात्पर्य मनुष्यों, समुदायों व सदेशों की गति से है। यह परिवहन सम्बन्धी क्रिया-कलाप की माप है। इसका मापन विभिन्न विधियों से किया जाता है।

(6) क्षेत्रीय अन्तर्सम्बन्ध एवं मू-दृश्य का विकास

विभिन्न परिवहन मार्गों के मिलन केन्द्रो का आपस में सम्बन्ध बढ़ता जाता है। परिवहन मार्गों के अधिकाधिक विस्तार के परिणामस्वरूप धरातल इस प्रकार का बन जाता है, जहाँ परिवहन सुविधाओं के कारण आर्थिक क्रिया-कलाप बढ़ते जाते हैं और सम्पूर्ण क्षेत्र अपनी अलग पहचान बना लेता है।

चित्र : 7.12
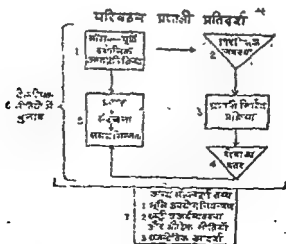
लागत (व्यय) सम्बन्धी विवेचन

परिवहन मार्गों की उत्पत्ति का मूलभूत कारण मांग है तथा परिपूरकता के उद्देश्य से इन मार्गों का जन्म होता है। सर्वप्रथम किसी मार्ग के निर्माण की मांग होती है। फिर उस मांग के कारण विनिर्माण लागत लगाकर धरातल पर परिवर्तन किया जाता है।

यातायात की सुविधाएँ प्रदान करने में लागत सम्बन्धी दो तत्व मुख्य हैं—

(1) प्रारम्भिक निर्माण लागत—यह वह लागत है जो मार्गों की दूरी पर निर्भर करती है व मार्ग पर आने वाली बाधाओं पर निर्भर करती है। मार्ग जितना अधिक दूर होगा, उसको बनाने में उतना ही अधिक व्यय होगा। इस चित्र में d तक मार्ग बनाने में अधिकतम लागत आयेगी। अतः सबसे पहले 1 से c तक का मार्ग बनेगा।
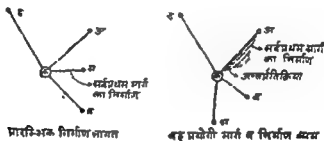
चित्र : 7.13

(2) बहु-प्रयोगी मार्ग व निर्माण व्यय—इस लागत में मार्ग दूरी व व्यक्तियों की अन्तर्प्रतिक्रिया दोनों का ध्यान रखा जाता है। जिस मार्ग की व्यक्तियों द्वारा अधिक मांग की जायेगी, उस मार्ग की दूरी व लागत अधिक आने पर भी सर्वप्रथम उस मार्ग को बनाया जायेगा। जैसा कि चित्र से स्पष्ट है—

1 से a तक का मार्ग दूर होने पर भी व्यक्तियों के आवागमन अधिक होने के कारण सर्वप्रथम इस मार्ग को बनाया जायेगा।

परिवहन व्यय के क्रम में एक दूसरे दृष्टिकोण से भी विचार होता है। जिसके दो पहलू हैं—

1. उपभोक्ता के लिए न्यूनतम लागत—उपभोक्ता की तो यह इच्छा होती है कि मार्गों का इस तरह से विकास किया जाय कि सभी केन्द्रों पर आसानी से कम से कम लागत में पहुँचा जा सके। सभी केन्द्र एक-दूसरे से मार्गों द्वारा जुड़े हुए हों।

चित्र : 7.14

2 निर्माता के लिए न्यूनतम लागत--निर्माता की विचारधारा उपभोक्ता से भिन्न होगी। वह यह सोचेगा कि ऐसे मार्ग का निर्माण किया जाय कि जिसको बनाने में कम से कम लागत आए तथा जहाँ तक सम्भव हो सभी केन्द्र भी आपस में जुड़ जाएँ।

उपर्युक्त सभी दशाएँ सरलीकृत धरातल से सम्बन्धित हैं। लागत सम्बन्धी बात इजार्ड ने भी कही। उनका कहना है कि वास्तविकता इससे भिन्न है। किन्हीं भी दो स्थानों को जोड़ने वाले मार्ग सीधी रेखाओं में नहीं होते। भूमि का स्वभाव एवं भूमि का दाम ऊँची दिशा में विचलन पैदा कर देता है।

अपवर्तन के नियम
(Law of Refraction)

अपवर्तन के नियम के अनुसार जब प्रकाश की किरण किसी माध्यम से सचरित होती हुई अन्य माध्यम में प्रवेश करती है तो दोनों माध्यमों को पृथक करने वाले पृष्ठ पर वह अपनी प्रारम्भिक दिशा से विचलित हो जाती है। इसी प्रकार परिवहन मार्गों का निर्माण सीधी रेखा में नहीं होता। दो रेखाओं के बीच जो मार्ग बनते हैं, वो सीधे न होकर मुड़ जाते हैं। सीधा मार्ग तो उसी तरह अपवाद स्वरुप है जैसे अपवर्तन नियम में आपतित किरण पृथकित पृष्ठ के अभिलम्ब न हो अन्यथा दूसरे माध्यम में भी वह अपनी प्रारम्भिक दिशा में ही सचरित होगी (भूमि का स्वभाव व दाम समान होने पर ही परिवहन मार्ग सीधा होगा।)
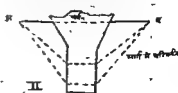
अपवर्तन के नियम का परिवहन मार्गों पर लागू होना

चित्र : 7.15

उपर्युक्त चित्र में (I) में न्यूनतम लागत रेखा न तो अ न ब है न ही अ म ब बल्कि यातायात का मार्ग वह होगा जो प को समुद्र तट पर पार करेगा।

इसी प्रकार चित्र (II) में मध्य में पर्वत आ गया तो अ से ब के मार्ग में अपवर्तन आ जायेगा।

धरातल संरचना का परिवहन निर्माण आगत पर प्रभाव

चित्र : 7.16

इस चित्र में उत्पत्ति स्थान अ तथा ब बिन्दु विभिन्न कीमत वाले विशेष स्थलों में विभक्त हैं। इस चित्र में जितनी अधिक गहरी छाया होती जा रही है, वह उतनी ही ज्यादा परिवहन निर्माण कीमत को बता रही है और उसकी भौतिक संरचना भी जटिल है। यहाँ पर जो यातायात मार्ग विकसित होगा, यद्यपि लम्बा होगा (जो न० 3 है) लेकिन उसकी कुल कीमत कम होगी।

अतः प्राकृतिक व मानवीय दोनों कारणों से विभिन्न प्रकार के परिवहन मार्गों व जालों का निर्माण होता है। तथा ये मिलकर एक जटिल भू-दृश्य का निर्माण करते हैं।

परिवहन व्यय की संरचना—सभी सैद्धांतिकी भूगोल से सम्बन्धित सिद्धांतों में एक मौलिक कल्पना परिवहन मूल्य के विषय में है। यह लागत सामान्यतया दूरी के अनुपातानुपाती होती है। अन्य शब्दों में दूरी की प्रत्येक इकाई के बढ़ने के साथ-साथ ही परिवहन लागत भी बढ़ जाती है। आरेख (अ) में।

(अ) दूरी के अनुक्रमानुपाती (ब) दूरी और व्यय असमानुपातिक
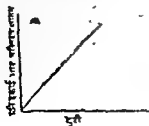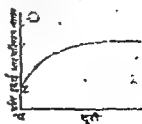
चित्र : 7.17

परन्तु वास्तव में परिवहन लागत सामान्यतया दूरी के अनुक्रमानुपाती सम्बन्ध से कम होती है जैसाकि आरेख (व) में है। इसका प्रमुख कारण यह है कि परिवहन की एक निश्चित दर होती है जो कि यात्रा की लम्बाई से अप्रभावित रहती है। पूँजी आधारित कारखाने (Capital investment plant) व औजारों की व्यवस्था पर व्यय आदि सभी परिवहन पर होने वाले व्यय में सम्मिलित है। इस मूलभूत लागत को अन्ततःलागत (Terminal cost) कहते है। यह चित्र में प ट रेखा द्वारा दिखाई गई है। यद्यपि यह लागत यात्रा की लम्बाई पर आधारित नही होती तथापि ये परिवहन मूल्य को विशाल पैमाने पर प्रभावित करती है जैसे-जैसे लम्बाई या दूरी बढती है अन्ततः लागत विस्तृत हो जाती है। इससे यह परिणाम निकलता है कि प्रति मील परिवहन दर ज्यों-ज्यों दूरी बढ़ती जाती है, कम होती जाती है।

परिवहन माध्यमों का भी परिवहन व्यय की भिन्नता पर असर पड़ता है। किसी स्थान विशेष में कोई परिवहन माध्यम ही उपयोगी होता है। परिवहन माध्यमो का परिवहन दर पर प्रभाव दूरी के अन्तर के अनुसार पड़ता है।
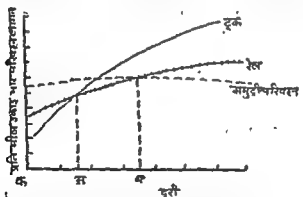
परिवहन के विभिन्न माध्यमों की परिवहन लागत वक्र रेखाएँ

चित्र : 7.18

उक्त चित्र से स्पष्ट है कि अधिक दूरी तक ट्रक का परिवहन व्यय अधिक आता है। जबकि कम दूरी तक ट्रक से परिवहन सबसे कम रहता है। लेकिन अधिक दूरी तक जाने के लिए समुद्री मार्ग अधिक सस्ता परिवहन साधन है लेकिन कम दूरी के लिए यह दोनों ट्रक व रेल-मार्ग से भी महँगा पड़ता है।

अधिकांश अर्थशास्त्रियों द्वारा परिवहन व्यय उत्पादन व्यय के साथ सम्मिलित किया गया है। अलग से परिवहन व्यय का अध्ययन नहीं किया गया है। अर्थशास्त्रियों ने परिवहन व्यय को उत्पादन व्यय में सम्मिलित करने के साथ-साथ पूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य निर्धारण की कल्पना करते हुए यह भी माना है कि अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए हर व्यक्ति के गतिशील होने और स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करने की सुविधा होने के कारण आदर्श स्थानिक स्वरूप स्वयं ही उपस्थित हो जाता है। इसी कारण उनके द्वारा वस्तुओं, सेवाओं या व्यक्तियों की स्थिति पर विचार नहीं किया गया।

अपनी पुस्तक Location and Space Economy (1956) में वाल्टर इजार्ड ने परिवहन को उत्पादन प्रक्रिया को आवश्यक तत्व माना है। आर्थिक विचारों के अन्तर्गत परिवहन के सन्दर्भ में स्थानिक विभिन्नता और स्थिति के अध्ययन पर विशेष जोर दिया है।

उत्पादन के साधन के रूप में परिवहन का स्वभाव

उत्पादन के अन्य साधनों की लागत के समान परिवहन की लागत इसकी दर है। परिवहन का स्वभाव उत्पादन के साधन के रूप में अन्य साधनों से भिन्न है—

(1) परिवहन का उत्पादन वस्तुओं व व्यक्तियों के आवागमन के रूप में होता है।

(2) इसका भण्डारण नहीं किया जाता है।

(3) उत्पादन कार्यों में यह सेवा के रूप में प्रयोग किया जाता है।

(4) परिवहन के साधनों का वितरण रैखिक होता है।

(5) यह उत्पादन अनवरत होता रहता है तथा उत्पादन व उपभोग की प्रक्रिया साथ-साथ चलती रहती है।

(6) परिवहन व अन्य सभी प्रकार के उत्पादनों में सार्वभौमिक तकनीकी सम्बन्ध होता है।

परिवहन व्यय में भिन्नता

व्यापार में परिवहन की लागत का बड़ा महत्व होता है। इसलिए व्यापारी लोग अपने मालों को सस्ते मार्गों के द्वारा भेजना चाहते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सबसे सस्ता मार्ग वह हो जो सबसे छोटा है क्योंकि किसी मार्ग में प्राकृतिक बाधाएँ हो सकती हैं और इनसे बचने के लिए अधिक चक्करदार मार्ग को अपनाना सरल-मुफीद होता है। परिवहन की लागत निम्न बातों पर निर्भर करती है—

(1) ढोये जाने वाले माल का स्वरूप।

(2) वह दूरी जिस पर माल का परिवहन होता है।

(3) परिवहन का साधन, जो माल ढोने के लिए प्रयुक्त होता है।

(4) निर्बाध संचलन में रुकावटें और कठिनाइयाँ।

(5) माल ढोकर ले जाने वाले वाहनो या पोतों की वापसी में ढुलाई का माल।

उपरोक्त सभी कारणों को निम्नलिखित शीर्षकों से समझा जा सकता हैं-

(अ) माल की विशेषताओं के कारण परिवहन व्यय की दर में भिन्नता- परिवहन दर वस्तु की विशेषताओं पर भी निम्नलिखित प्रकार से निर्भर करती है—

(i) वजन सम्बन्धी विशेषताएँ—जो वस्तु भारी होगी उसका परिवहन व्यय कम होगा। जैसे कि लोहा व कोयले का परिवहन व्यय अधिक होता है।

(ii) ढोये जाने वाले माल की मात्रा—परिवहन दर व माल की मात्रा के आकार में सीधा सम्बन्ध है। जब किसी वस्तु का भार अधिक हो जाता है तब दर कम हो जाती है। विभिन्न परिवहन माध्यमों का भी इस पर प्रभाव पड़ता है।

(iii) ढोये जाने वाले माल की विशेषताएँ—जो वस्तु टूट-फूट वाली हो जैसे काँच के बर्तन आदि। उनका परिवहन व्यय अधिक होता है। जो वस्तु जल्दी खराब होने वाली हो उनका भी परिवहन व्यय अधिक होता है। जबकि शीघ्र नष्ट नहीं होने वाली वस्तु का परिवहन व्यय कम होता है। इसी प्रकार बहुमूल्य वस्तुओं या जोखिम वाले सामान (विस्फोटक सामग्री आदि) का परिवहन व्यय अधिक होता है।

(iv) माँग की लोच—माँग की लोच कम होने पर कीमत अधिक होगी। जबकि माँग की लोच अधिक होने पर कीमत कम होगी।

(ब) ट्रैफिक की विशेषताओं के कारण परिवहन व्यय की दर में भिन्नता

1. परिवहन के साधनों के मध्य प्रतिस्पर्धा—यदि यातायात के लिए विभिन्न साधन उपलब्ध हो तो प्रतिस्पर्धा के कारण यातायात व्यय कम होगा। इसके विपरीत एक ही प्रकार का साधन उपलब्ध होने पर परिवहन दर बढ़ी हुई मिलती है। जैसाकि चित्र से स्पष्ट है।

परिवहन के साधनों में प्रतिस्पर्धा

चित्र : 7.19

अ का परिवहन व्यय कम होगा जबकि ब का अधिक होगा क्योंकि अ तक लाने के लिए विभिन्न साधन उपलब्ध हैं।

2. यातायात की सघनता—यदि यातायात व्यवस्था सघन हो तो परिवहन दर कम होगी। कम मात्रा में परिवहन सेवाएँ चालू हों तो दर अधिक होगी। जैसाकि चित्र से स्पष्ट है।

यातायात सघनता से परिवहन व्यय में भिन्नता

चित्र : 7.20

अ में सघन परिवहन है अतः वहाँ परिवहन दर कम आयेगी जबकि ब की अधिक आयेगी क्योंकि वहाँ सभी ओर से परिवहन सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं।

3. निश्चित मार्ग में लदान की दिशा—यदि एक स्थान से दूसरे स्थान को माल भेजकर वापसी में ढोये जाने वाले माल की प्राप्ति की सम्भावना हो तो परिवहन दर कम होगी। अन्यथा यह दर बढ़ी हुई होगी। जैसा कि चित्र से स्पष्ट है।

निश्चित मार्ग में लदान की दिशा से यातायात व्यय में भिन्नता।

चित्र : 7.21

अ स्थान पर कोयला मिल रहा है ब स्थान पर लोहा। अतः दोनों स्थानों पर लोहा एवं इस्पात उद्योग की स्थिति ठीक रहेगी, परिवहन व्यय भी कम

(5) माल ढोकर ले जाने वाले वाहनों या पोतों की वापसी में ढुलाई का माल।

उपरोक्त सभी कारणों को निम्नलिखित शीर्षकों में समझा जा सकता है–

(अ) माल की विशेषताओं के कारण परिवहन व्यय की दर में भिन्नता– परिवहन दर वस्तु की विशेषताओं पर भी निम्नलिखित प्रकार से निर्भर करती है—

(i) लदान सम्बन्धी विशेषताएँ—जो वस्तु भारी होगी उसका परिवहन व्यय कम होगा। जैसे कि लोहा व कोयले का परिवहन व्यय अधिक होता है।

(ii) ढोये जाने वाले माल की मात्रा—परिवहन दर व माल की मात्रा के आकार में सीधा सम्बन्ध है। जब किसी वस्तु का भार अधिक हो जाता है तब दर कम हो जाती है। विभिन्न परिवहन माध्यमों का भी इस पर प्रभाव पड़ता है।

(iii) ढोये जाने वाले माल की विशेषताएँ—जो वस्तु टूट-फूट वाली हो जैसे काँच के बर्तन आदि। उनका परिवहन व्यय अधिक होता है। जो वस्तु जल्दी खराब होने वाली हो उनका भी परिवहन व्यय अधिक होता है। जबकि शीघ्र नष्ट नहीं होने वाली वस्तु का परिवहन व्यय कम होता है। इसी प्रकार बहुमूल्य वस्तुओं या जोखिम वाले सामान (विस्फोटक सामग्री आदि) का परिवहन व्यय अधिक होता है।

(iv) माँग की लोच—माँग की लोच कम होने पर कीमत अधिक होगी। जबकि माँग की लोच अधिक होने पर कीमत कम होगी।

(ब) ट्रैफिक की विशेषताओं के कारण परिवहन व्यय की दर में भिन्नता

1. परिवहन के साधनों के मध्य प्रतिस्पर्धा—यदि यातायात के लिए विभिन्न साधन उपलब्ध हो तो प्रतिस्पर्धा के कारण यातायात व्यय कम होगा। इसके विपरीत एक ही प्रकार का साधन उपलब्ध होने पर परिवहन दर बढ़ी हुई मिलती है। जैसाकि चित्र से स्पष्ट है।

परिवहन के साधनों में प्रतिस्पर्धा

चित्र : 7.19

होगा क्योंकि अ से ट्रक आते समय ब के लिये कोयला लेता आयेगा। जाते समय अ के लिए लोहा ले जायेगा। जबकि स केन्द्र पर फैक्टरी की अवस्थिति होने पर परिवहन व्यय अधिक होगा क्योंकि यहाँ से वापस जाते समय ट्रक को खाली लाना पड़ेगा। संयुक्त राज्य अमेरिका में लोहा इस्पात में इस उद्योग में यह स्थिति देखी जा सकती है। यहाँ आन्तरिक कोयला क्षेत्र से कोयला सुपीरियर झील क्षेत्र के लोहा स्थानों को भेजा जाता है। यहाँ पर यह उद्योग स्थित है। वापसी में ये जहाज उस क्षेत्र से लोहा भर लेते है जो आन्तरिक कोयला क्षेत्र में लोहा इस्पात उद्योग की स्थापना मे सहायक सिद्ध होता है।

(स) निश्चित दूरियों के अनुसार परिवहन व्यय की दर का निर्धारण

परिवहन व्यय को दूरी के अनुपात मे लिया जाता है। जैसे-जैसे दूरी बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे उसी अनुपात में परिवहन व्यय बढ़ता जाता है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि परिवहन व्यय में वृद्धि दूरी के बढ़ने के साथ-साथ न बढ़कर सीढ़ी दर सीढ़ी बढ़ती है। जैसे हमें 40–100 कि.मी. जाना है तो परिवहन दर 5 कि. मी. की दूरी से बढ़ेगी। जैसा कि चित्र से स्पष्ट है—
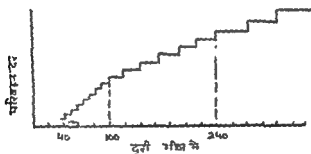
दूरी का परिवहन दरों पर प्रभाव

चित्र : 7.22

आरेख से स्पष्ट है कि 100 मील तक जाने पर परिवहन दर 5 मील की दूरी से बढ़ती है जबकि 240 कि. मी. दूर जाने पर परिवहन दर 10 मील की दूरी से बढ़ेगी। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि ट्रक से परिवहन थोड़ी दूर के लिए सस्ता पड़ता है। जबकि अधिक दूर जाने के लिए समुद्री मार्ग सस्ता पड़ेगा।

परिवहन लागत व आर्थिक क्रिया-कलापों की अवस्थिति

सभी प्रकार के आर्थिक क्रिया-कलापों को सम्पन्न करने के लिए आवागमन आवश्यक है। और इस पर होने वाले व्यय की मात्रा भी भिन्न-भिन्न होती है।

अतः परिवहन व्यय की यह भिन्नता भू-तल पर आर्थिक क्रिया-कलापों को प्रभावित करती है । विशेष रूप से लम्बी दूरी से कच्चा माल प्राप्त करने या तैयार माल बाजार तक भेजने में यह तत्व प्रभावशाली होता है । विभिन्न विद्वानो द्वारा आर्थिक क्रिया-कलापो की अवस्थिति से सम्बन्धित सिद्धान्तो मे इस तत्व के महत्व को स्वीकारा गया है ।

वेबर ने उद्योगों में प्रयुक्त कच्चे माल का वर्गीकरण करते हुए परिवहन-व्यय को न्यूनतम करते हुए विभिन्न प्रकार के उद्योगो की स्थापना कच्चे माल के स्रोतों के समीप बाजार के समीप या दोनो के किसी मध्यवर्ती बिन्दु पर होने की बात कही है ।
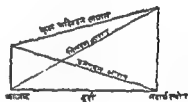
[अ] पदार्थ स्रोत पर अवस्थिति [ब] बाजार पर अवस्थिति

वेबर के अनुसार यातायात-व्यय और उद्योग की स्थापना.

चित्र : 7.23

इसी प्रकार की बात वान थ्यूनेन ने कही कि सरलीकृत धरातल पर नगर से बढ़ती दूरी के अनुसार विभिन्न खण्डो में विभिन्न फसलों का उत्पादन स्पष्टतः परिवहन व्यय के अनुसार निर्धारित होगा। किसी फसल विशेष का उत्पादन उतनी दूरी तक ही हो सकेगा, जहाँ तक कि उसके उत्पादन तथा बाजार तकपहुँचाने के लिए परिवहन-व्यय का योग बाजार मे प्रचलित मूल्य के होगा ।
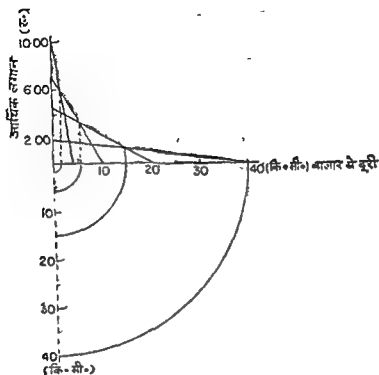
चित्र : 7.24

हूवर महोदय ने भी परिवहन व्यय के आर्थिक क्रिया-कलापों की स्थिति में प्रभाव के महत्व को स्वीकारा है। हूवर ने अपने सिद्धान्त का नाम परिवहन प्रतिदर्श दिया, जिसमें उन्होंने कल्पना की कि अकेला निर्माणकर्ता एक जगह से ही कच्चा माल प्राप्त करता है तथा एक ही बाजार को भेजता है। हूवर ने बताया कि वो विभिन्न साधनों से माल भेजने से कीमत में वृद्धि हो जाती है। अतः उद्योग की स्थापना मध्य में होगी।

जब माल को परिवहन माध्यम से दूसरे परिवहन माध्यम में बदला जाता है तो उस पर अतिरिक्त लदान का व्यय हो जाता है। अतः जहाँ यह उतारा व लादा जाता है वह उद्योग स्थापना की सर्वोत्तम स्थिति होती है। जैसाकि चित्र से स्पष्ट है कि म (पदार्थ स्रोत) व परिवहन माध्यम परिवर्तन बिन्दु के मध्य जब परिवहन द्वारा गति होती है।

(अ + ब) कुल परिवर्तन व्यय

(ब) वितरण व्यय

जल मार्ग

रेल मार्ग

(अ) उपार्जन व्यय

A B C

पदार्थ स्रोत

परिवहन माध्यम परिवर्तन बिन्दु

बाजार
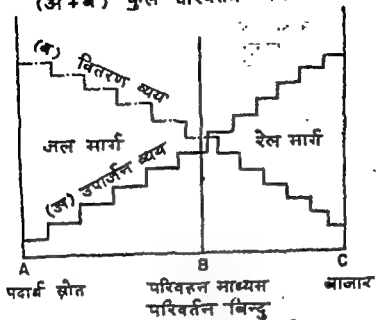
चित्र : 7.25

ब व स (बाजार) के बीच रेल परिवहन है। इन दोनों की परिवहन लागत को दर्शाया गया है। स पर जल परिवहन से रेल परिवहन में बदलने पर व्यय एकाएक बढ़ जाता है।

इजार्ड ने भी सर्वोत्तम स्थिति वही मानी है कि जहाँ पर कि सभी ओर से परिवहन मार्ग आते हों।
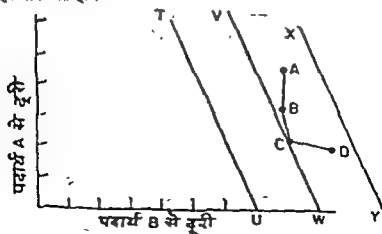
चित्र : 7.26

उपर्युक्त चित्र के द्वारा इजार्ड ने बताया कि स्थिति इन चारो A B C D में से किसी स्थान पर हो सकती है। क्योंकि केवल ये ही बिन्दु ऐसे है जहां पर पदार्थ व बाजार के बीच सीधे मार्ग हैं। सर्वोत्तम स्थिति वही है जो पदार्थ A व B दोनो का न्यूनतम परिवहन व्यय करे। अर्थात् निम्नतम सम्भावित समबाह्य रेखा (isooutline) पर हो। यहां पर यह स्थिति C पर है। यह बिन्दु आंशिक सन्तुलन की स्थिति को दर्शाता है।

परिवहन में सुधार तथा उसका स्थानिक प्रभाव

मानवीय क्रिया-कलापों एव संस्थाओ की बनाए रखने के लिए परिवहन आवश्यक है। परिवहन मे सुधार होने पर यह क्रियाकलाप व संस्थाएँ भी अपना स्वरूप बदलती रहती है। परिवहन मे सुधार की प्रक्रिया तीन प्रकार की होती है—

(1) सामान्य वृद्धि—जिसके अन्तर्गत मार्ग का निर्माण होता है जहां-जहां मांग बढ़ती जाती है वहीं पर इनका निर्माण होता है।

चित्र : 7.27

(2) मात्रा वृद्धि—जिसके अन्तर्गत मार्गों पर वाहनो की संख्या बढ़ने से उन्हें चौड़ा किया जाता है तथा उसके आस-पास के स्थानों को भी उस परिवहन मांग मार्ग मे जोड़ दिया जाता है।
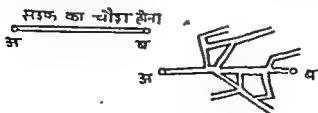
चित्र : 7.28

(3) संरचनात्मक वृद्धि जिसके अन्तर्गत बस्तियों का आकार बढ़ जाने पर परिवहन की मांग स्वतः ही बढ़ने लगती है साथ ही परिवहन के नये-नये साधनों का प्रयोग होने लगता है। सड़क परिवहन के साथ-साथ रेल-मार्गों व वायु-मार्गों का भी प्रयोग प्रारम्भ हो जाता है।
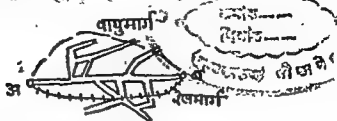
संरचनात्मक वृद्धि

चित्र : 7.29

संरचनात्मक वृद्धि के परिणामस्वरूप किसी क्षेत्र के संसाधनों का अधिकतम विदोहन सम्भव होता है और इस अधिकतम विदोहन द्वारा नये-नये बसाव केन्द्रों का विकास होने लगता है।

आगे दिये हुए चित्र में बताया गया है कि किस प्रकार मांग पूर्ति के लिए एक केन्द्र स्थापित होता है उसे अन्य स्थानों से परिवहन मार्गों द्वारा जोड़ा जाता है तथा निरन्तर विकास के साथ केन्द्रों की व परिवहन मार्गों की संख्या भी बढ़ती जाती है। अवस्था (1) में बन्दरगाह के पास केन्द्र स्थापित होते हैं तथा छोटे-छोटे
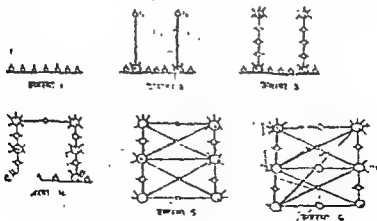
विकासशील देशों में परिवहन जाल के निर्माण का एक आदर्श प्रतिदर्श

चित्र : 7.30

मार्ग होते हैं। ग्रवस्था (2) मे मार्गों का ग्रौर ग्रधिक विकास होता है जिससे गतिशीलता में वृद्धि होती है। बन्दरगाह के केन्द्र व ग्रान्तरिक क्षेत्रों मे सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। ग्रवस्था (3) में नवीन नगरीय केन्द्रों का विकास हो जाता है। ग्रवस्था (4) नवीन नगरीय केन्द्र व मार्गों के विकास को प्रदर्शित करती है। दो क्षेत्रों में प्रतिस्पर्धा शुरू हो जाती है। ग्रवस्था (5) में परिवहन जाल के मध्य में भी नगरीय केन्द्र विकसित हो जाता है ग्रौर परिवहन जाल ग्रौर घना हो जाता है। ग्रवस्था (6) द्वारा घने ट्रैफिक प्रवाह को प्रकट किया गया है। सभी केन्द्रों का ग्रापस मे घना सम्बन्ध है। इस विकास को निम्नलिखित प्रकार से भी प्रदर्शित किया जा सकता है।
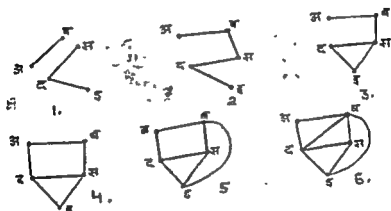
चित्र : 7.31

रेलमार्गों द्वारा निर्मित जाल व सड़क मार्गों द्वारा बनाया हुग्रा जाल दोनों ग्रलग-ग्रलग तरीकों से विकसित होते हैं। सड़क मार्गों का जाल सभी केन्द्रों से ग्रापस में सम्बन्धित होता है।

चित्र : 7.32

इसी प्रकार तकनीकी रूप से विकसित व अविकसित देशों के परिवहन मार्गों के जाल में पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। मानव अधिवासों और उन्हें जोड़ने वाले परिवहन मार्गों का एक परिकल्पित क्रम निम्नलिखित प्रकार से दिया जा सकता है—
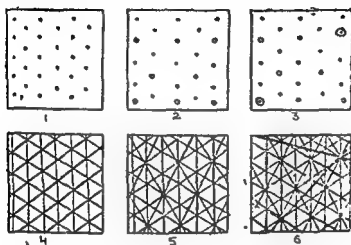
परिवहन मार्गों के जाल के विकास का परिकल्पित क्रम

चित्र 7.33

उपरोक्त आरेख में अवस्था (1) द्वारा छोटे-छोटे गावों को जोड़ने वाले घने परिवहन जाल को प्रदर्शित किया गया है। ये मार्ग या तो पक्के बने हो सकते हैं या पगडंडियाँ भी हो सकती है। अवस्था (2) में इससे उच्च परिवहन व्यवस्था को बताया गया है कुछ विशिष्टीकृत बस्तियाँ आपस में परिवहन मार्गों द्वारा जुड़ गई हैं। तृतीय अवस्था में कुछ उच्च किस्म की विशिष्टीकृत बस्तियाँ अपने से छोटे गांवों से भी जुड़ गई हैं अर्थात् वे परिवहन मार्गों के मिलन केन्द्रों का कार्य करने लगी है। इसी प्रकार 4, 5 व छटी अवस्था द्वारा जटिल परिवहन जाल को प्रदर्शित किया गया है। इस सबके विपरीत तकनीकी रूप से अविकसित देशों में इस प्रकार के परिवहन जालों का नितांत अभाव पाया जाता है। कुछ विकसित नगरों में ही ऐसा धरातल दिखाई पड़ता है।

धरातल पर माँग व पूर्ति के उद्देश्य से बने परिवहन मार्ग के निर्माण का एक क्रम होता है यह क्रम अधोंकित प्रतिदर्श द्वारा बताया गया है।

स्थानीय संसाधनों का उपयोग करने के लिए पहले चरण में यातायात की माँग उत्पन्न होती है। इस माँग की पूर्ति करने के लिए दूसरे चरण में नवीन तकनीकी का विकास होता है। तत्पश्चात् तीसरे चरण में यातायात का विकास होता है। अतः जनता किसी स्थान
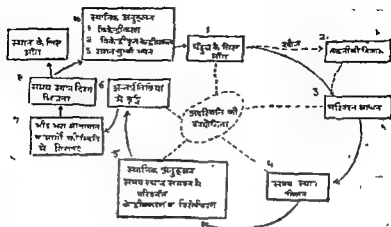
परिवहन में सुधार से सम्बन्धित स्थानिक पुनर्गठन की प्रक्रिया

चित्र 7.34A

से दूसरे स्थान तक चतुर्थ चरण में कम समय में ही पहुँच जाती है। निरन्तर विकास के कारण पाँचवें चरण में स्थानीय अनुकूलन व केन्द्रीयकरण व विशिष्टीकरण का प्रादुर्भाव होता है। इस कारण छठी अवस्था में अन्तःप्रतिक्रिया में वृद्धि हो जाती है। साथ ही साथ नई भूमि की भी माँग उत्पन्न होने लगती है। इस अन्तःप्रतिक्रिया में वृद्धि के कारण सातवीं अवस्था में ट्रैफिक में वृद्धि हो जाती है तथा मार्गों की दशा में गिरावट भी हो जाती है। इसके कारण आठवीं अवस्था में यातायात में अधिक समय लगने लगता है। सबसे अन्तिम स्थिति यह कि विकेन्द्रित केन्द्रीयकरण उत्पन्न हो जाता है। बहुमंजिले भवन बन जाते हैं तथा फिर से यातायात मार्गों के निर्माण की माँग उत्पन्न हो जाती है तथा इसके लिए नवीन भूमि की माँग होने लगती है।

परिवहन मार्ग-जालों का विश्लेषण

भौगोलिक तत्व के रूप में परिवहन मार्ग भूतल पर प्रत्यक्षतः दृष्टिगत होते हैं अतः राष्ट्रीय या प्रादेशिक स्तर पर इनके विश्लेषण पर ध्यान दिया जाता है। साधारणतया मार्ग-जालों के विश्लेषण में प्रमुख एवं गौण मार्गों के अन्तर्सम्बन्ध तथा वितरण प्रारूप का प्राकृतिक एवं मानवीय कारकों के सन्दर्भ में विवेचन किया जाता है और इनके विभिन्न ज्यामितीय प्रारूप जैसे त्रिभुज, चतुर्भुज, पंचभुज, चेकरबोर्ड आदि विभिन्न प्राकृतिक अवरोधों की उत्तरोत्तर प्रबलता के द्योतक माने जाते हैं। किसी प्रदेश में परिवहन मार्गों की सघनता, सम्बद्धता एवं उनकी संरचना से सम्बन्धित विवेचन उस क्षेत्र की आर्थिक प्रगति को जानने का अच्छा साधन बनता है।

(अ) सघनता (Density)—इसके अन्तर्गत किसी प्रदेश के प्रति इकाई क्षेत्रफल एवं उसके अन्तर्गत पड़ने वाले मार्ग-जाल की कुल लम्बाई को ज्ञात किया जाता है। कई बार जनसंख्या की किसी मानक इकाई के सन्दर्भ में भी कुल मार्ग-जाल की लम्बाई बतायी जाती है। जैसे प्रति 100 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में परिवहन मार्गों की लम्बाई या प्रति 10,000 व्यक्तियों पर परिवहन मार्गों की लम्बाई आदि। इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों के परिवहन मार्ग-जाल के विकास का मोटे तौर पर तुलनात्मक अध्ययन हो जाता है। प्रायः प्रशासनिक इकाइयों को आधार माना जाता है।

किन्तु समान क्षेत्रफल वाले भागों में परिवहन मार्गों की लम्बाई समान होने पर भी उनकी स्थिति भिन्न-भिन्न प्रकार की होने के कारण उनका प्रभाव भी अलग-अलग प्रकार का होता है। जैसे—क्षेत्र के बीच से या उसकी सीमा से लगता हुआ परिवहन मार्ग लम्बाई में समान होते हुए भी क्षेत्र के आवागमन पर अलग-अलग प्रभाव डालता है, जबकि घनत्व समान माना जायेगा या परिवहन सुविधा समान मानी जायेगी। यदि परिवहन मार्ग क्षेत्र की सीमा से सटा हुआ जाय परन्तु उसकी सीमा के अन्तर्गत न पड़े तो उस क्षेत्र में परिवहन सुविधा, (सघनता) शून्य मानी जायेगी जबकि वास्तव में उस क्षेत्र के लोग परिवहन का लाभ उठा रहे होते हैं।

मार्गों की लम्बाई के साथ-साथ मार्गों की तकनीकी एवं संचालन सम्बन्धी विशेषताएँ भी इस विधि द्वारा प्रकट नहीं हो सकती। कच्ची-पक्की सड़कें, छोटी-बड़ी रेल लाइनें लम्बाई के अनुसार बराबर घनत्व (सघनता) प्रदर्शित कर सकती हैं किन्तु उनके द्वारा क्षेत्र को मिलने वाली सुविधा भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। इसी प्रकार विकसित एवं विकासशील देशों में परिवहन मार्गों की विशेषताओं में अत्यधिक अन्तर होने के कारण सघनता की तुलनात्मक उपयोगिता महत्त्वहीन हो जाती है।

(ब) गम्यता (Accessibility)—परिवहन मार्गों से होने वाली गमनागमन की सुविधा की अभिव्यक्ति गम्यता से होती है। वस्तुतः गम्यता विश्लेषण द्वारा परिवहन मार्गों के सन्दर्भ में विभिन्न केन्द्रों या क्षेत्रों की स्थिति प्रकट होती है क्योंकि परिवहन मार्गों से असम्पृक्तता आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एकाकीपन एवं पिछड़ेपन का द्योतक है। इस प्रकार गम्यता की मात्रा से किसी क्षेत्र के विकास का स्तर एवं मार्गजाल की प्रभावोत्पादकता का मापन होता है।

सामान्यतया मार्ग जाल की गम्यता परिवहन मार्गों से एक विशेष दूरी द्वारा प्रकट की जाती है। उदाहरणार्थ किसी समतल मैदानी क्षेत्र में परिवहन मार्गों के दोनों ओर की 7 किलोमीटर की पट्टी को गम्य तथा इससे अधिक दूरी पर स्थित क्षेत्र अगम्य माने जा सकते हैं। धरातलीय बनावट के अनुसार यह दूरी अलग-अलग निर्धारित की जाती है जो अध्ययनकर्त्ता के निरीक्षण एवं विवेक पर निर्भर करती है। सघन मार्ग-जाल के अन्तर्गतनगम्यता अधिक

होगी। लेकिन जैसाकि हम जानते है क्षेत्रीय कार्यात्मक संगठन (Spatial Functional Organization) एवं आर्थिक अन्तर्सम्बन्ध के दृष्टिकोण से परिवहन मार्गों की गम्यता की अपेक्षा स्थानीय तथा प्रादेशिक केन्द्र स्थलों तक पहुँचने के लिए मिलने वाली सुविधा अधिक अर्थपूर्ण है क्योंकि आर्थिक गतिविधियों का सचालन प्रायः इन्ही केन्द्रों द्वारा नियंत्रित होता है। अतः एक ही पदानुक्रम के विभिन्न केन्द्र स्थलो की पारस्परिक गम्यता स्थिति का विश्लेषण अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके द्वारा विभिन्न केन्द्र-स्थलो की स्थापन उपयोगिता का आकलन किया जा सकता है। गम्यता की माग के लिए केन्द्रों तक पहुँचने का समय, परिवहन-व्यय आदि बातों का भी सहारा लिया जा सकता है जिनके बारे मे अन्यत्र बताया जा चुका है। सम्पूर्ण मार्ग-जाल के सन्दर्भ में एक बिन्दु की गम्यता निम्नलिखित सूत्र से प्राप्त होती है

$$[A \ (i\ A) = \ ^n\Sigma d\ (i\ j)\ i = 1 \ ]$$

(स) सरचना (Structure)—मार्ग जालों के वस्तुनिष्ठ संरचनात्मक विश्लेषण के लिए कई टोपोलॉजिकल (Topological) मापकों का उपयोग किया जाता है। इस हेतु जिस प्रतिदर्श का सहारा लिया जाता है उसे ग्राफ सिद्धान्त (Graph Theory) कहते हैं। कोई भी परिवहन व्यवस्था (Transportation System) बिन्दुओ की शृंखला और उन्हें मिलाने वाले बाहुओ या रेखाओ की शृंखला होती है जिसे ग्राफ में परिवर्तित किया जा सकता है क्योंकि ग्राफ क्रमबद्ध रूप में आयोजित किये गये बिन्दुओ और रेखाओ का समुच्चय है।*

परिवहन मार्ग-जाल को ग्राफ के रूप में परिवर्तित करते समय निम्नलिखित क्रिया की जाती है—

1. किसी भी परिवहन मार्ग-जाल मे जितने भी उद्गम संगम तथा अन्तिम अथवा प्रमुख नगर स्थल होते हैं उन्हें बिंदुओं (Vertices)तथा इनको सीधे संबंधित करने वाले मार्गों को बाहुओं (edges) के रूप मे माना जाता है।

2. प्रशासनिक सीमायें हटा दी जाती हैं।

3. इसमें बिंदुओं के बीच की वास्तविक दूरी अर्थात् बाहुओं की लम्बाई पर ध्यान नहीं दिया जाता।

4. सभी बिंदुओं और भुजाओं की विभिन्न संरचनात्मक विशेषताओं को प्रकाशित करने वाले मानक (values) प्रदान किये जाते हैं तथा ग्राफ सिद्धांतीय सकल्पनाओं एवं साध्यों के आधार पर सरचनात्मक निर्देशांकों की गणना की जाती है।

5. ग्राफ मापक के अनुसार नहीं खींचा जाता।

---

* Graph is a set of systematically organized points and lines.

निम्नलिखित चित्र में दक्षिणी राजस्थान के रेल मार्ग-जाल को ग्राफ में परिवर्तित किया गया है—
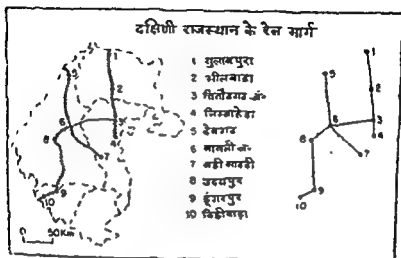
चित्र 7.34B

परिवहन मार्ग-जालों को ग्राफ में परिवर्तित करने पर जो स्वरूप सामने आता है उसके आधार पर ग्राफों को ओरियेन्टेड (oriented), नान ओरियेन्टेड (Non-oriented), वेटेड (weighted), प्लेनर (planar), नान-प्लेनर (Non-planar), कनेक्टेड (connected), अनकनेक्टेड (unconnected), सब-ग्राफ (Sub-graph), आदि नामों से पुकारा जाता है।

ग्राफ सिद्धांतीय संकल्पनाओं एवं साध्यों के आधार पर विभिन्न संरचनात्मक निर्देशांकों को दो भागों में बाँटा जाता है—(1) सम्पूर्ण मार्ग-जाल की संरचनात्मक विशेषताओं के द्योतक, (2) मार्ग-जाल के विशिष्ट तत्वों की संरचना के द्योतक।

सम्पूर्ण मार्ग-जाल की संरचना द्योतक निम्नलिखित निर्देशांकों का उपयोग होता है

(क) साइक्लोमेटिक निर्देशांक (Cyclomatic Number Nullity or first order Betti number or μ)

यह निर्देशांक किसी मार्ग-जाल के विलग तत्वों एवं उसके व्याप का तुलनात्मक स्वरूप प्रस्तुत करता है। इसे निम्नलिखित सूत्र द्वारा प्रस्तुत करते हैं-

$$\mu = e - v + p$$

जिसमें μ = साइक्लोमेटिक अंक (the observed number of circuits in the network)

v = बिंदुओं की संख्या (Number of vertices)
e = बाहुओं की संख्या (Number of edges)
p = असम्बद्ध ग्राफो की संख्या (Number of Subgraphs)

उदाहरण—

असम्बद्ध मार्ग-जाल

$\mu = e - v + p$

$\mu = 4 - 6 + 2 = 0$

वृक्षनुमा मार्ग-जाल

$\mu = e - v + p$

$\mu = 6 - 7 + 1 = 0$

सम्बद्ध मार्ग-जाल

$\mu = e - v + p$

$\mu = 8 - 7 + 1 = 2$

μ का मान जितना अधिक होगा, मार्ग-जाल उतना ही सुसम्बद्ध होगा और क्षेत्र का आर्थिक, सामाजिक स्तर ऊँचा होगा।

(ख) अल्फा निर्देशांक [Alpha (α) Index]—यह निर्देशांक किसी मार्ग-जाल से सम्बद्धता स्तर का द्योतक है। इसमें पूर्णतः सुसम्बद्ध मार्गजाल का निर्देशांक 1 तथा पूर्णतः असम्बद्ध मार्गजाल का निर्देशांक शून्य आता है। यदि प्राप्त निर्देशांक को 100 से गुणा कर दिया जाय तो इसे अधिकतम सम्बद्धता के प्रतिशत के रूप में लिया जा सकता है। इसे निम्नलिखित सूत्र से ज्ञात कर सकते है—

$$\alpha = \frac{\mu}{(2v-5)} \text{ या } \alpha = \frac{e-v+p}{2v-5}$$

उदाहरण--

$\beta = \frac{3}{4} = 0{\cdot}75$

$\beta = \frac{4}{4} = 1{\cdot}00$

$\beta = \frac{6}{4} = 1{\cdot}50$

(घ) गामा निर्देशांक [Gamma (γ) Index]—यह निर्देशांक किसी मार्ग-जाल में विद्यमान बाहुओं एवं अधिकतम सम्भावित बाहुओं के अनुपात को प्रकट करता है। इस निर्देशांक का मान 0 से 1 के मध्य आता है। पूर्णतः संबद्ध मार्ग-जालों के लिये इसका मान 1 तथा अपूर्ण संबद्धता वाले मार्ग-जालों का मान 1 से कम आता है। इसमें भी 100 का गुणा करने से मार्गजाल की सम्बद्धता का प्रतिशत ज्ञात हो जाता है। इसे निकालने का सूत्र निम्नलिखित है—

$$\gamma = \frac{e}{3\,(v-2)}$$

उदाहरण— प्रतिशत में

$$\gamma = \frac{3}{3(4-2)} = \cdot 30 \text{ या} \qquad 30 \cdot 0$$

$$\gamma = \frac{4}{3(4-2)} = \cdot 666 \text{ या} \qquad 66 \cdot 6$$

$$\gamma = \frac{6}{3(4-2)} = 1 \cdot 00 \text{ या} \qquad 100 \cdot 0$$

(ट) पाइ निर्देशांक [Pie (π) Index]—यह निर्देशांक सम्पूर्ण मार्ग-जाल तथा विशिष्ट बाहुओं के सम्बन्ध का द्योतक है। वस्तुतः इससे मार्ग-जाल की कुल लम्बाई तथा उसके व्यास की लम्बाई का अनुपात ज्ञात करते हैं। यह निर्देशांक 1 अथवा इससे अधिक आता है। मार्ग-जाल जितना ही जटिल होगा यह निर्देशांक उतना ही अधिक होगा। इसे निम्नलिखित सूत्र द्वारा ज्ञात किया जाता है—

$\pi = \frac{c}{d}$; c = मार्गजाल की कुल लम्बाई
d = व्यास की कुल लम्बाई

उदाहरण—

$\pi = \frac{c}{d}$; c = 10 कि० मी०, d = 10 कि० मी०

$\pi = \frac{10}{10}$ या 1

$\pi = \frac{c}{d_1 + d_2}$; c = 150 „, d_1 = 60 „, d_2 = 40 „

$\pi = \frac{150}{100}$ या 1·5
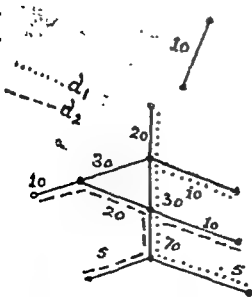
(च) थीटा निर्देशांक [Theta (θ) Index)—यह निर्देशांक संपूर्ण मार्ग-जाल एवं उसमें पड़ने वाले केन्द्र बिन्दुओं का अनुपात व्यक्त करता है। दूसरे शब्दों में इससे प्रत्येक बिन्दु से गुजरने वाले यातायात की औसत मात्रा प्रकट होती है। यह निम्नलिखित सूत्र से प्राप्त होता है—

$$\theta = \frac{T}{V}$$ जबकि T = सपूर्ण यातायात की मात्रा, V = केन्द्र बिन्दुओं की संख्या

सपूर्ण यातायात की जगह कुल लम्बाई का भी उपयोग किया जा सकता है और सूत्र निम्नलिखित प्रकार हो जायगा—

$$\theta = \frac{M}{V}$$

सरचना विश्लेषण से सम्बन्धित कुछ अन्य तथ्य निम्नलिखित प्रकार से हैं—

सम्बद्धता (Connectivity)—किसी मार्ग-जाल में बिन्दुओं (केन्द्रों) के बीच जिस सीमा तक सीधा सम्पर्क (परिचलन) होता है उसे मार्गजाल की सम्बद्धता (संयोजकता) कहते हैं।*

सम्बद्धता का स्तर आकलन उसमे अधिकतम एवं न्यूनतम सम्बद्धता के मापदण्ड पर किया जाता है। अधिकतम सम्बद्धता निम्नलिखित सूत्र से व्यक्त होती है—

$$c_{max} = \frac{V(V-1)}{2}$$

न्यूनतम सम्बद्धता निम्नलिखित सूत्र से व्यक्त होती है—

$$\text{Minimum Connectivity} = \frac{\frac{V(V-1)}{2}}{V-1}$$

इस प्रकार सम्बद्धता स्तर का सूत्र निम्नलिखित प्रकार से होगा—

$$d.c. = \frac{\frac{V(V-1)}{2}}{e}$$

* The degree to which the direct movements are possible between nodes in a network is called connectivity of the network.

प्रसार सूचकांक—किसी कार्य-जाल के प्रसार को ज्ञात करने के लिए निम्नलिखित सूत्र का प्रयोग होता है —

$$[D(N) = \sum_{i=1;\, j=1}^{n} d(i\, j)]$$

जिसमें d केन्द्र बिंदु i से j तक की दूरी है। अतः हम एक केन्द्र से मार्ग-जाल के सभी केन्द्र बिन्दुओं की दूरी ज्ञात करते हैं, पुनः सबको जोड़ते है। यह योगफल जितना ही अधिक होगा मार्ग-जाल का फैलाव उतना ही माना जायगा।

परिभ्रमण सूचकांक—इससे मार्ग-जाल के विशिष्ठ तत्वों की सम्पूर्ण मार्ग-जाल में सापेक्षिक स्थिति प्रकट होती है। सूत्र निम्नलिखित है—

$$D.C. = \frac{\sum^{n} (E-D)^2}{V}$$

जिसमें E = विद्यमान मार्ग की लम्बाई

D = इच्छित मार्ग की लम्बाई

V = केन्द्र बिन्दुओं की संख्या

अतः इसके द्वारा विद्यमान मार्गजाल की तुलना एक ऐसे काल्पनिक मार्ग-जाल से करते हैं जिसमें सभी बिन्दु न्यूनतम दूरी याने मार्ग से सम्बद्ध हों।

एसोसियेटेड नम्बर—(Associated Number)—यह किसी दिये गये केन्द्र बिन्दु से अन्य बिन्दुओं तक पहुँचने में अधिकतम बाहुओं की संख्या व्यक्त करता है।

संरचना विश्लेषण विधि की समालोचना—परिवहन मार्गजाल संरचना विश्लेषण के उपर्युक्त निर्देशांक मार्गजाल के विभिन्न तत्वों के मापक हैं। अत: ये परस्पर परिपूरक है। किसी मार्गजाल का समुचित संरचनात्मक स्वरूप इनमें अधिकाधिक निर्देशांकों को ज्ञात करने से ही प्रकट हो सकता है। संख्यात्मक मापन होने के कारण इन निर्देशांकों का उपयोग किसी क्षेत्र विशेष के अन्य ऐसे तत्वों, जिन्हें संख्यात्मक रूप में प्रकट किया जा सकता है, से परिवहन संरचना का कार्यात्मक अन्तर्सम्बन्ध स्थापित करने में सुविधापूर्वक किया जा सकता है।

इस प्रकार के विश्लेषण में कई कठिनाइयां भी उपस्थित होती हैं। जैसे किसी बड़े देश के विभिन्न प्रदेशों के मार्ग-जाल का, सम्पूर्ण मार्ग-जाल से विलग करके उसका संरचनात्मक अध्ययन करने में परिणामों में कृत्रिमता आ जाती है। केन्द्र बिन्दुओं (Vertices) एवं बाहुओं (edges) की परिभाषा भी बहुत दृढ़ एवं स्पष्ट/निर्दिष्ट है, क्योंकि परिवहन मार्ग पर स्थित किस प्रकार के नगर को केन्द्र बिंदु

माना जाय यह व्यक्तिगत निर्णय पर निर्भर करता है। अतः इनके आधार पर प्राप्त किया गया निर्देशांक भी भिन्न-भिन्न आ सकता है। इस प्रकार के विश्लेषण द्वारा मार्ग-जाल का क्षेत्रीय कार्यात्मक संगठन (Spatial Functional Organization) से अन्तर्सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता क्योंकि इसमें किया गया विश्लेषण मार्ग-जाल के तत्वों पर केन्द्रित होता है न कि उसके क्षेत्रीय प्रभावोत्पादकता पर। इसके साथ-साथ यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि इस विश्लेषण पद्धति में प्रत्येक मार्ग को समान मान लिया जाता है और मार्गों के तकनीकी संचालन स्तर का कोई ध्यान नहीं रहता जबकि तकनीकी संचालन स्तर पर ही परिवहन की प्रभावोत्पादकता या अधिकाधिक सुविधा निर्भर करती है। उदाहरण के लिए मार्गों की लम्बाई बराबर होने पर भी छोटी या बड़ी रेल लाइन; कच्ची या पक्की, चौड़ी या संकरी सड़क आदि। फिर भी परिवहन मार्ग-जाल संबंधी संरचनात्मक विशेषताओं को समझने के लिए यह विश्लेषण पर्याप्त उपयोगी है।

अन्तप्रंतिक्रिया (Interaction)

परिवहन पर विचार करने के बाद उसके परिणामस्वरूप होने वाली अन्तंप्रतिक्रिया का विवेचन करना समीचीन होगा। प्राकृतिक तत्वों की गतिशीलता वायु व जल द्वारा होती है। मनुष्यों व वस्तुओं की गतिशीलता परिवहन का परिणाम है। इसी तरह विचारों की गतिशीलता संचार के साधनों जैसे—डाक, तार, टेलीफोन, रेडियो, टेलिविजन द्वारा होती है। इस प्रकार स्थानों के बीच वस्तुओं, विचारों व मनुष्यों में पाई जाने वाली गतिशीलता को अन्तप्रंतिक्रिया कहते हैं। आर्थिक भूदृश्य में विभिन्नता के परिणामस्वरूप गतिशीलता प्रभावित होती है तथा वस्तुओं एवं जनसंख्या के आवागमन से आर्थिक भूदृश्य की संरचना प्रभावित होती है। इस प्रक्रिया का प्रभाव अन्तप्रंतिक्रिया पर पड़ता है। दूसरे शब्दों में अन्तप्रंतिक्रिया को प्रभावित करने वाले दो तत्व हैं—

(1) माँग व पूर्ति

(2) दूरी।

दूरी प्रभाव के प्रकार

चित्र 7.35

दो केन्द्रों के बीच आर्थिक संबंधों की सामर्थ्य उन केन्द्रों के आकार के अनुसार धनात्मक रीति से परिवर्तित होती रहती है तथा उन केन्द्रों के बीच की

दूरी के अनुसार ऋणात्मक रीति से परिवर्तित होती रहती है। दो केन्द्रों के बीच जितनी अधिक जनसंख्या होती है उतनी ही ज्यादा उनके बीच आर्थिक अन्तर्प्रतिक्रिया होती है। परन्तु उन केन्द्रों के बीच जितनी अधिक दूरी होती है, उतनी ही कम अन्तर्प्रतिक्रिया होती है। निम्नलिखित चित्र द्वारा इसे समझा जा सकता है—
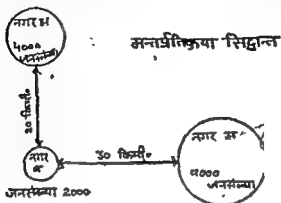
चित्र 7.36

उपर्युक्त चित्र के अनुसार—अ नगर तथा ब नगर के बीच व्यापार का सूचकांक—

$$\frac{4000 \times 2000}{20} = \frac{8,000,000}{20} = 400,000$$

नगर ब तथा स के बीच व्यापार सूचकांक

$$\frac{2000 \times 9000}{30} = \frac{18,000,000}{30} = 600,000$$

इस प्रकार दूरी अधिक होते हुए भी अ तथा ब के बीच आर्थिक अन्तर्प्रतिक्रिया नगर ब तथा स के बीच की अन्तर्प्रतिक्रिया की अपेक्षा अधिक होगी।

अन्तर्प्रतिक्रिया को प्रभावित करने वाले तत्व

(1) परिसंचरण—क्षेत्रों का संगठन किसी कमोबेशी क्रम या प्रणाली के आधार पर पाया जाता है। जैसा कि सेवा केन्द्रों का पदानुक्रम होता है। अन्तर्प्रतिक्रिया परिसंचरण पर आधारित रहती है। पदार्थ संदेशों एवं व्यक्तियों की गति इसी के द्वारा प्रभावित होती है। इस पारस्परिक क्रिया के लिए परिवहन व संचार साधनों द्वारा क्षेत्रों के बीच दूरी पर विजय प्राप्त की जाती है। परिसंचरण साधनों द्वारा कोई स्थान दूसरे स्थान से जितनी मात्रा में पहुँच के योग्य होता है।

उतनी ही उस स्थान की अभिगम्यता होती है। जो स्थान जितना अधिक अन्य स्थानों के सम्पर्क में आयेगा उस स्थान पर अन्तर्प्रतिक्रिया भी अधिक होगी।
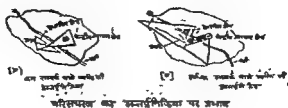
चित्र 7.37

(2) सचार के साधनो मे किसी स्थान की स्थिति—परिवहन मार्गों व सचार के साधनो से बने परिसंचरण जाल में किसी स्थान की स्थिति कहां पर है इसका प्रभाव अन्तर्प्रतिक्रिया पर पड़ता है। जिन स्थानों की केन्द्रीय अवस्थिति होती है उनकी अभिगम्यता ऊँचे दर्जे की होती है। जिन स्थानों की अवस्थिति सीमावर्ती होती है या परिवहन जाल से दूर होती है, वहां अन्तर्प्रतिक्रिया कम होती है। वे पृथकता का अनुभव करते हैं।
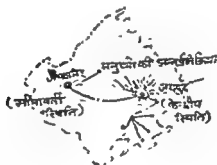
चित्र 7.38

(3) सामाजिक व आर्थिक स्तर—जिन व्यक्तियों की आय अधिक होगी, वे एक-स्थान से दूसरे स्थान पर अधिक आयेंगे-जायेंगे। जबकि कम आय वाले आवागमन कम करेंगे। उनका एक-दूसरे से सम्पर्क कम होगा।

(4) आवागमन के बीच में रुकावट—केन्द्र के किसी प्रदेश या स्थान की दूरी कम या अधिक होने का ही प्रभाव नहीं होता वरन् उस प्रदेश में आवागमन

के साधनों और परिसंचरण में किसी बाधा के उपस्थित होने पर भी पहुँच में कमी हो जाती है जैसे—कांगो व अमेजन बेसिन के सघन वन आवागमन में भारी कठिनाई उत्पन्न करते हैं। हमारे देश के पर्वतीय और रेगिस्तानी भागों की स्थिति भी इसी प्रकार की है।

(5) प्राकृतिक कारक—जलवायु व मौसम सम्बन्धी भिन्नताएँ अन्तर्प्रतिक्रिया को प्रभावित करती हैं। अतः समान जनसंख्या होने पर भी भिन्न-भिन्न जलवायु प्रदेशों में स्थित नगरों के मध्य अन्तर्प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न होती है।

(6) सामाजिक कारक—सामाजिक व सांस्कृतिक परम्पराओं के कारण भी अन्तर्प्रतिक्रिया में अन्तर आ जाता है। त्योहार, मेले, धार्मिक पर्व आदि के समय अन्तर्प्रतिक्रिया अधिक होती है। दूसरी ओर अंधविश्वासों के कारण इसमें कमी आ सकती है।

(7) राजनीतिक कारक—किसी देश की सरकार व्यक्तियों के आवागमन पर प्रतिबन्ध लगा सकती है। युद्ध के समय यह कारक सक्रिय हो जाता है।

अन्तर्प्रतिक्रिया को ज्ञात करने के लिए विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रयास किए गए हैं। इस दिशा में गुरुत्व प्रतिदर्श उल्लेखनीय है।

गुरुत्व प्रतिदर्श (Gravity Model)

सैद्धान्तिक दृष्टि से अन्तर्प्रतिक्रिया सम्बन्धी विचार न्यूटन के पदार्थ के गुरुत्वाकर्षण सम्बन्धी भौतिक नियम के समान विकसित किया गया है। केन्द्रों के प्रभाव क्षेत्रों के आकार का अनुमान लगाने का सबसे अधिक संतोषप्रद मॉडल भौतिक विज्ञान से लिया गया है। इसे गुरुत्व प्रतिदर्श कहते हैं। उसके अनुसार—

$$(1)\ G = \frac{M_1 M_2}{d_{1,2}^2}$$

$$\text{गुरुत्वाकर्षण शक्ति का परिमाण} = \frac{\text{वस्तु का द्रव्यमान} \times \text{पृथ्वी का द्रव्यमान}}{\text{वस्तु व पृथ्वी के बीच दूरी}}$$

विचारधारा का विकास

इस नियम को ध्यान में रखते हुए एच. सी. केरे ने अपने ग्रन्थ Principles of Social Science (1858–59), जो कि फिलाडेल्फिया में छपी थी, में मानवीय अन्तर्प्रतिक्रियाओं के क्रम में इस प्रतिदर्श का विकसित किया। उनका कहना था कि सामाजिक व भौतिक वस्तुएँ तथा घटनाएँ समान भौतिक नियमों पर आधारित हैं। अन्तर्प्रतिक्रिया और गुरुत्वाकर्षण की सादृश्यता के सम्बन्ध में उन्होंने निम्नलिखित विचार प्रस्तुत किए। मनुष्य समाज के कण की भाँति है और पदार्थों से सम्बन्धित गुरुत्वाकर्षण सम्बन्धी नियम मनुष्य पर भी लागू होता है। किसी

स्थान पर जितने अधिक लोग इकट्ठ होंगे, उस स्थान की उतनी ही अधि आकर्षण शक्ति होगी। गुरुत्वाकर्षण नियम की भाँति यह शक्ति जनसंख्या की मात्र से प्रत्यक्ष (सीधा) अनुपात तथा दूरी से उल्टा अनुपात रखेगी।

सन् 1885 में ई. जी. रैवेन्स्टीन ने अपने लेख Law of Migration जनसंख्या के स्थानान्तरण की व्याख्या करते हुए आंशिक रूप से इस विचार ग्रहण किया व निम्न सूत्र प्रस्तुत किया—

(2) $Mij = \frac{f(Pj)}{dij}$ या j केन्द्र व i केन्द्र के बीच स्थानान्तरण =

$$\frac{\text{i केन्द्र की जनसंख्या की कोई शक्ति}}{\text{i व j के बीच की दूरी}}$$

1924 में ई. सी. यंग ने अपने लेख The movement of farm Population में अपने स्थानांतरण के माप-जोख के संदर्भ में इस विचार को प्रभावित किया। यंग ने यह कल्पना की कि किसी केन्द्र की ओर विभिन्न स्रोतों से होने वाले स्थानान्तरण का सापेक्षिक परिणाम उस केन्द्र की आकर्षण शक्ति के अनुकूल तथा केन्द्र से स्रोतों के बीच दूरी के वर्ग के विपरीत अनुपात में होता है जो उन्होंने निम्न सूत्र द्वारा व्यक्त किया—

(3) $Mij = K\frac{Zj}{dij^2}$ या i j के बीच स्थानान्तरण =

$$\text{अनुपात सम्बन्धी अंतर } \frac{\text{i केन्द्र की आकर्षण शक्ति}}{\text{i व j के बीच की दूरी}^2}$$

कुछ समय बाद (1929 में) डब्लू. जे. रिले ने अपने लेख Law of Retail Gravitation में गुरुत्व प्रतिदर्श के सम्बन्ध में कुछ भिन्न विचार प्रस्तुत किये। रिले के अनुसार एक शहर में खुदरा व्यापार में (जो उसके चारों ओर है) और जनसंख्या के आकार में सीधा आनुपातिक सम्बन्ध होता है जबकि दो केन्द्रों के बीच की दूरी में विपरीत सम्बन्ध होता है। अतः एक सन्तुलन बिन्दु दो प्रतिस्पर्द्धात्मक शहरों को एक रेखा में जोड़ेगा जहाँ पर प्रतियोगिता का प्रभाव बराबर होगा। इसे निम्नलिखित सूत्र द्वारा व्यक्त किया गया है—

$$\frac{Pi}{dxi^2} = \frac{Pj}{dxj^2}$$

जहाँ

Pi, Pj = i तथा j केन्द्र की जनसंख्या
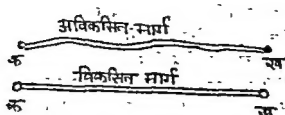
चित्र 7.38

ऊपर दो स्थितियाँ बताई गई है। अ तथा ब में समान दूरी पर दो केन्द्र स्थित हैं लेकिन हम देखते हैं कि उनके बीच की दूरी में जो साधन उपलब्ध है वे भिन्न-भिन्न है। अ स्थिति में जाने के लिए अविकसित मार्ग है जबकि ब स्थिति में विकसित मार्ग है। अतः अ की अपेक्षा ब में अन्तर्प्रतिक्रिया अधिक होगी।

दो स्थानों की समान दूरी होने पर भी अवरोधों के कारण अन्तर्प्रतिक्रिया प्रभावित होती है।

कई बार ऐसा भी होता है कि एक वस्तु का बाजार समीप होते हुये भी व्यक्ति दूर से उस वस्तु को लाना पसंन्द करते हैं। ऐसी स्थिति में दूरी तत्व ने अन्तर्प्रतिक्रिया को प्रभावित नहीं किया बल्कि अन्तर्प्रतिक्रिया भावनात्मक सम्बन्ध या व्यवहार कुशलता या जातिगत भावना या अन्य किसी कारण से प्रभावित है। जैसाकि निम्नलिखित चित्र से स्पष्ट है कि दूरी अधिक होते पर भी ब पर अन्तर्प्रतिक्रिया अधिक है।
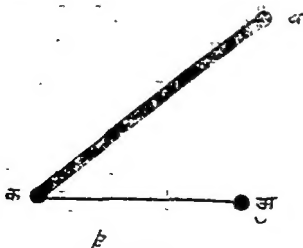
चित्र 7.39

अतः अन्तप्र तिक्रिया से सम्बन्धित सूत्र

$Iij = \frac{Pi\ Pj}{dij\ b}$ में 'b' का मान कई तरह से प्रदर्शित किया गया क्योंकि यह i तथा j स्थानों के बीच की दूरी के अन्तर्गत आने वाले अवरोधों, मध्यवर्ती आपूर्ति स्रोतों, असुविधाओं, अविकसित साधनों भावनात्मक लगाव आदि की मात्रा को प्रदर्शित करता है।

जनसंख्या कारक में संशोधन

जनसंख्या की संरचना तथा व्यक्तियों में आवागमन की क्षमता में भिन्नता होने के कारण अन्तप्र तिक्रिया की मात्रा में भी अन्तर आ जाता है। समान जनसंख्या होने पर भी एक स्थान की परिस्थितियों व दूसरे स्थान की परिस्थितियों में भिन्नता होने से अन्तप्र तिक्रिया भी भिन्न होगी। अतः पूर्ववर्ती सूत्रों में सुधार करते हुये निम्नलिखित सूत्र प्रतिपादित किया गया—

$$Iij = \frac{\mu iPi\mu iPj}{dij^b}$$

जहाँ μi = i स्थान की जनसंख्या की क्षमता

μj = j स्थान की जनसंख्या की क्षमता

शिक्षा, आयु, लिंग, आर्थिक दशा, सामाजिक स्थिति आदि कई कारक अन्तप्र तिक्रिया को प्रभावित करते हैं। किसी स्थान की जनसंख्या की इन तमाम बातों (तत्वों) को सम्मिलित करने के उद्देश्य से सूत्र निम्नलिखित प्रकार से संशोधित किया गया—

$$Iij = \frac{(\Sigma\phi i)Pi(\Sigma\ j)Pj}{dij^b}$$

जहाँ

$\Sigma\phi i$ = i स्थान के जनसंख्या सम्बन्धी तथ्य

$\Sigma\ j$ = j स्थान के जनसंख्या सम्बन्धी तथ्य

गुरुत्व प्रतिदर्श ने भूगोलवेत्ताओं को भारी प्रभावित किया। इसलिये विभिन्न दृष्टिकोणों से इस प्रतिदर्श पर विचार किया गया। विचार के मुख्य बिन्दु जनसंख्या की विशेषतायें और दूरी से सम्बन्धित तथ्य रहे। कन्लू. इसार्ड ने सुझाव दिया कि परिवारों के सदस्यों की गतिशीलता उनकी आय पर निर्भर करती है और दो केन्द्रों के मध्य परिवहन लागत पर भी यह आधारित है। इसी प्रकार बेकोल व एण्डरसन ने सुझाव दिया कि परिवहन लागत के साथ-साथ परिवहन में लगने वाले समय का प्रभाव भी अन्तप्र तिक्रिया पर पड़ता है। इन तथ्यों को निम्नलिखित रेखाचित्रों द्वारा समझा जा सकता है—

परिवहन लागत का प्रभाव परिवहन समय का प्रभाव

चित्र 7.39

सी. डी. हैरिस ने बाजार सम्भवता (Market Potential) ज्ञात करने के लिये बाजार की माप खुदरा बिक्री से तथा दूरी की माप परिवहन लागत से की और निम्नलिखित सूत्र प्रस्तुत किया

$$IR = \frac{\Sigma^n Sj}{j=ICij}$$

जहाँ IR = बाजार सम्भवता

Sj = j क्षेत्र में खुदरा बिक्री की मात्रा

Cij = i व j केन्द्र के बीच परिवहन लागत

ऐन्डरसन का कहना है कि तकनीक में परिवर्तन होने पर भी जनसंख्या की अन्तर्प्रतिक्रिया में परिवर्तन हो जाता है।

सारांश

गुरुत्व प्रतिदर्श का उपयोग स्थानिक अन्तर्प्रतिक्रिया ज्ञात करने के लिये कई प्रकार से किया गया है। न्यूटन के पदार्थ सम्बन्धी भौतिक नियम के सादृश्य विकसित इस प्रतिदर्श से सम्बन्धित कुछ समस्यायें निरन्तर बनी हुई है। सभी सूत्रों में Pi व Pj को केन्द्रों की जनसंख्या के रूप में प्रयुक्त किया गया है जो द्रव्यमान के द्योतक हैं। अणु तथा मनुष्य का स्वभाव भिन्न-भिन्न होता है। अणु में किसी प्रकार का भावनात्मक प्रवाह नहीं होता जबकि मनुष्य एक भावनात्मक प्राणी है। अतः उसकी अन्तर्प्रतिक्रिया अणु से भिन्न होती है। मानव स्वभाव की माप कठिन है। इसी प्रकार दूरी की माप भी एक समस्या है। भौतिक शास्त्र में दूरी की माप के समान यह सरल कार्य नहीं है। परिवहन सम्बन्धी तमाम अध्ययनों ने यह सिद्ध कर दिया है कि सामाजिक विज्ञानों में दूरी मापन में भौतिकशास्त्र की तुलना में अधिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। इतना होते हुए भी इस प्रतिदर्श सैद्धान्तिक महत्व को नकारा नहीं जा सकता। इसके द्वारा अन्तर्प्रतिक्रिया को मापने में अंतर.